लज्जा

इलाचन्द्र जोशी

लज्जा

ग्रन्थ-संख्या—१२१
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण
सं० २००४
मूल्य २)

मुद्रक
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

'घृणामयी' नाम से जो उपन्यास मैंने कई वर्ष पूर्व लिखा था, 'लज्जा' उसी का अल्प-संशोधित रूप है। मूल कहानी, भाव, भाषा तथा शैली में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। जो नाममात्र का परिवर्तन किया गया है वह केवल ऊपरी 'पालिश' में। इसलिये जो पाठक मेरी औपन्यासिक रचनाओं के विकास की पहली सीढ़ी से यथारूप परिचित होने की आकांक्षा रखते हों उन्हें उसके वर्तमान स्वल्प-परिवर्तित रूप से अधिक निराशा नहीं होगी, ऐसी आशा रखता हूँ।

प्रयाग,
शुक्ला द्वितीया
चैत्र, २००४

इलाचन्द्र जोशी

लज्जा

प्रथम भाग

१

घृणा ! घृणा ! मेरी सारी आत्मा आज घृणा के भाव से ओत-प्रोत है। मुझ हत्यारी नारी ने आज समस्त प्रकृति को, सारे विश्व को अपने अन्तस्तल की घृणा से लीप-पोतकर एकाकार कर दिया है। इस अनन्त सृष्टि का अस्तितव ही आज मेरे लिये केवल घृणा को लेकर है। स्त्री का रूप देखते ही घृणा से मेरा खून खौलने लगता है; पुरुष की छाया से भी मेरा हृदय जर्जरित हो उठता है। दिन के कोलाहल से मैं बेतरह ऊब उठती हूं; रात्रि की विजन शान्ति से मेरा दिल दहल जाता है। अनन्त सुख-दुःखमय जीवन-धारा की विचित्र लहरी-लीला देख देखकर मेरी आत्मा भड़क उठती है, और महामृत्यु की कल्पना से भी मेरी रग-रग में निविड़ उदासीनतामय घृणा व्याप्त हो जाती है। हाय मेरे भगवान् ! इस घृणामयी नारी की क्या गति होगी ! किस विकराल अन्धकारमय, अनन्तशून्यमय, निविड़ अवसादमय गहन गह्वर की ओर इस क्रूरा, उत्तेजिता, हिंसामयी रमणी को तुम ढकेले लिये जाते हो ! हे मेरे अदृश्य देवता ! इस विपुल शून्य की अनन्त छाया में क्या कहीं भी मेरे लिये त्राण नहीं है ?

अबला ? इस हतभाग्य देश ने नारी को अपने अबलापन पर गर्व करने की शिक्षा दी है। प्राचीनतम काल से हमारे देश की नारी इसी भाव से प्रेरित होती आई है। इसका फल यह हुआ है कि आज उसमें

न तो स्त्रीत्व ही पाया जाता है, न पुरुषत्व ही। नपुंसक के भाव भी शायद उससे कहीं अधिक पुष्ट होंगे। कायर की क्रूरता प्रसिद्ध ही है। आज जब मेरी स्वजाति में 'नयी जागृति' फैलने लगी है तो उसकी चिर-दासत्व-जन्य कायरता अपना क्रूर रूप प्रकट करने लगी है।

देश में नारी-जागरण के प्रथम सूत्रपात की भेरी ने अपने भैरव-हुंकार से बड़े-बड़े वीरों के दिल भी दहला दिए हैं। इस मंगल-शंखनाद को सुनकर देशहितैषीगण गद्गद-भाव से पुलकित होकर आनन्दाश्रु बहा रहे हैं। मासिक-पत्रों में नयी-नयी उपाधि-प्राप्ता महिलाओं के चित्रों की धूम मची हुई है। कौन महिला एम० ए० की परीक्षा में सर्व-प्रथम हुई है, कौन महिला 'बार-प्रेक्टिस' कर रही है, किस रमणी-रत्न को मजिस्ट्रेट का पद प्राप्त हुआ है, किस वीरांगना देशहित का व्रत ग्रहण किया है---इन्हीं सब विषयों की चर्चा से देश का वर्त्तमान वायु-मंडल गूंज उठा है। ये सिद्धार्थिनी, कार्य-व्रती, वीर रमणियां धन्य हैं! भगवान इनका मंगल करें! पर कहां हो तुम मेरी प्यारी सखी शकुंतले! तुम्हारी आत्मा में कभी 'नारी के अधिकार' और 'नारी-जागरण' का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। तुमने कभी युनिर्वासिटी की शिक्षा प्राप्त नहीं की। तुमने कभी राजनीतिक क्षेत्र में धूम मचाने की चेष्टा नहीं की। अपने अन्तः-करण के स्वाभाविक माधुर्य से पुष्ट होकर, अपनी चिरसंगिनी सहकार-लता की तरह, तुम बिना किसी वाह्य संसर्ग और कृत्रिम चेष्टा के प्रकृति माता की प्रिय कुमारी की तरह विकसित हो चली थीं। कहां हो तुम प्यारी सखी! आज इस चिर-दुःखिनी, चिर-पापिनी को क्या किसी तरह भी तुम्हारे पवित्र चरणों की धूलि प्राप्त नहीं हो सकती? हाय सखि, विंश शताब्दी की 'उन्नति' के तुमुल कोलाहल से उकताकर, वर्त्तमान युनिर्वासिटी की शिक्षा से परितृप्त और सभ्य-समाज के शिष्टाचार की धूलि से लिप्त होकर मैं तुम्हारे तपोवन की विजन शान्ति में अपनी आत्म को निमज्जित करना

चाहती हूं। क्या काल के उलटे स्रोत में बहकर मैं किसी प्रकार तुम्हारे पास तक नहीं पहुंच सकती ?

२

दुःख की ज्वाला से तप्त और पाप की यातनाओं से उत्तेजित इस पापिनी की रामकहानी को धैर्यपूर्वक सुनने वाले सहृदय पाठक कितने मिलेंगे ? हाय, जिस देश में मैंने जन्म लिया है वहां पापियों के प्रति समवेदना प्रकट करना जघन्य पाप समझा जाता है । भगवान् ! तब क्यों मैं इस पुण्य के भार से गुरु-गम्भीर देश में उत्पन्न हुई ? जीवन की समस्त अनुभूतियों से परिचित होने पर आज मुझे मालूम हो रहा है कि इस देश की आत्मा से मेरे स्वभाव का बहुत कम सामंजस्य है। प्राचीन ग्रीस देश की उत्तप्त उत्तेजना से मेरा स्वभाव गठित हुआ है । इस उत्तेजना की प्रचण्ड अग्नि आज तक मेरी आत्मा के अतल गर्भ में समाधिस्थ थी । आज अचानक आग्नेय-गिरि के विलोल प्लावनकी तरह वह बाहर को फूट निकली है ।

जिस विशाल भवन में मेरा जन्म हुआ, वह शहर-भर में विख्यात था । काका ने जब एक साधारण रकम देकर उसे ख़रीदा था तब उसमें भूतों का डेरा बताया जाता था । बाद में काका ने उसमें अपने मन के अनुरूप बहुत-से परिवर्तन किये । पर उस भवन का जो बदनाम था वह कहां तक सत्य था, मैं कह नहीं सकती । क्योंकि बचपन से ही मैं उसके भीतर के राजसी जीवन में एक ऐसी मधुर शान्ति का अनुभव किया करती थी जिसकी कल्पना भी अब मैं किसी तरह नहीं कर पाती । हाय, भाई-बहनों के साथ आनन्द से हिल-मिलकर रहने और निर्द्वंद्व भाव से मुक्त विचरकर खेल-कूद करने के उन प्यारे दिनों को अतीत की कराल छाया कितनी निष्ठुरता के साथ हरण कर ले गई ! नवल-प्रभात के पक्षी की तरह तब मेरी आत्मा कितनी निष्पाप, कितनी विशुद्ध, और कितनी

आनन्दमय थी ! भाई-बहन के बालकपन का निर्मल प्रेम ! कितना दुर्लभ और कितना अमूल्य है ! भाई ? धिक्कार है मुझ हत्यारी को ! किस जले मुंह से यह शब्द मैं अब निकाल सकती हूँ ? किस निर्लज्ज लेखनी से इन दो अक्षरों को लिख सकती हूँ ? भगवान् ! इस बेहयाई का क्या कुछ ठिकाना है ! जान बूझकर अपने प्यारे भाई की हत्या करके उसी की गुण-गाथा गाने का पाखंड रचती हूं ! कुछ भी हो, आज अन्तिम बार अपनी निर्लज्ज कहानी समस्त संसार को मुझे सुनानी ही होगी। जब तक वायुमंडल के प्रत्येक अदृश्य अणु के साथ मेरी निर्लज्जता एकप्राण होकर मिल न जाय, तब तक मेरी उत्तप्त आत्मा को कभी शान्ति मिलने की नहीं।

मैं कह रही थी कि उस विशाल भवन की अव्यक्त शान्ति में मेरी बाल्यावस्था बीती थी । काका कानपुर के एक बहुत बड़े व्यापारी थे। वह दो मिलों के मालिक थे और कई मिलों के 'शेयर होल्डर' थे। उनकी गणना युक्तप्रान्त के श्रेष्ठ धनाधिपतियों में की जाती थी । हम पांच भाई-बहन थे । मैं सबसे बड़ी थी । मेरा नाम काकाने बड़े लाड़ से लज्जावती रक्खा था । (हाय, तब उन्हें क्या ख़बर थी कि उनकी लाड़िली लड़की ऐसी बेहया निकलेगी !) मुझसे छोटा मेरा भाई राजेन्द्रप्रसाद था। घर के सब लोग उसे रज्जन या राजू कहते थे। मुझ कलमुही को भगवान् ने असीम सौन्दर्य प्रदान किया था । पर रज्जन हम तीनों में अधिक रूपवान्, गुणवान् और बुद्धिमान् था। मुझे बहुत ही छोटी अवस्था से अपने इस भाई पर बड़ा गर्व था और मैं उसे जी-जान से प्यार किया करती थी । भाई मेरे ! आज तुम्हारी बात लिखते-लिखते इन फूटी आंखों से आंसुओं की झड़ी बह रही है । सारा अन्तःकरण पिघल-पिघलकर बाहर को निकलना चाहता है। हाय, मुझे कोई बतला सकता है कि किसी जन्म में इस हत्यारी को फिर कभी तुम मिलोगे ? भैया, तुम जिस नक्षत्र-लोक में हो वहीं सुख और शान्ति से रहो, मैं केवल इतनी ही प्रार्थना भगवान से करती हूँ । मैं सब तरफ़ से हार मानने पर भी यह आशा किसी तरह नहीं छोड़ सकती कि किसी-न-किसी जन्म में तुम्हारे दर्शन मुझे फिर मिलेंगे ही । तुम्हारे देवता के समान उन्नत चरित्र की छत्र-

छाया में रहकर मैं अपनी आत्मा को तुम्हारे ही समान उन्नत बनाने की चेष्टा एक बार अवश्य करूंगी। जहां कहीं भी हो, अपनी इस पापिनी, चिरदु:खिनी बहन को न भूलना ! बाल्यकाल में हम तीन भाई-बहनों ने जिस निष्कलुष प्रेम के आनन्द में पगकर दिन बिताए थे, उस मधुर स्मृति को कभी न बिसारना !

मेरी बहन लीला रज्जन से प्रायः ढाई साल छोटी थी। उससे छोटी दो बहनें और थीं—एक का नाम था कला, और सबसे छोटी बच्ची का नाम था विमला। जब मेरी अवस्था बारह वर्ष की थी तब रज्जन नौ साल का था और लीला ने सातवें वर्ष में प्रवेश किया था। सारे घर से हम लोगों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता था। हम तीनों की दुनिया ही न्यारी थी। हम अपने ही खेल-कूद, राग-रंग और स्नेह-प्रेम के झगड़े में मग्न रहा करते थे। हमारी इस एकांत बाल्यलीला में यदि कोई बाधा थी तो वह हमारी अद्‌भुत नामवाली 'गवर्नेस' मादमाजेल मार्या पावलोवना। इस अद्‌भुत 'रूसी' महिला को काका बम्बई से पकड़ लाए थे। बम्बई में वह उनके हाथ कैसे लगी, इसका इतिहास किसी को मालूम नहीं था। वह कब, कैसे और क्यों भारतवर्ष में आई, यह बात भी कोई नहीं जानता था। उसके मां-बाप वास्तव में रूसी ही थे या नहीं, काका को इस सम्बन्ध में भी शक था। उनकी यह धारणा थी कि वह एक साधारण घर की ऐंग्लो-इण्डियन स्त्री है, और यूरोप हो आई है; अपने समाज के प्रति विद्वेषवश उसने अपना रूसी नाम रख लिया है। कुछ भी हो, वह अंगरेजी खूब अच्छी तरह से बोलती थी और फ्रेंच, जर्मन आदि विलायती भाषाओं से भी परिचित थी। हिन्दी भी वह टूटी-फूटी बोल लेती थी। 'क्यों' के बदले वह 'काहे' शब्द काम में लाती थी। ऐसे अद्‌भुत ढंग से वह 'काहे' कहती थी कि रज्जन बिना हँसे नहीं रह सकता था। उसके हँसने पर वह पूछती—"तुम काहे हँसते हो?" इस पर रज्जन और भी ज़ोर से हँस पड़ता और हँसते-हँसते उसके पेट में बल पड़ जाते, और उसकी आंखों से आंसू निकल पड़ते थे। रज्जन को हँसते देखकर मुझे भी हँसी

आ जाया करती थी। मैं अक्सर उसके समने नाच दिया करती थी और गाती थी—

अँगरेज़ी बोली हम बोला—
टटारि टूटि टुम !

कभी गाती—

अंगला नाचे बंगला नाचे नाचे ग़ुसलखाना,
मेमसाहब की चिट्ठी आई, जल्दी भेजो खाना !

वह खीझने पर भी हँस पड़ती। मेरा नाम उसने 'टॉम बॉय' रक्खा था। हम लोग केवल 'मादमाज़ेल' कहकर उसे पुकारते थे। जब काका उसे पकड़ लाए थे, तब उसकी अवस्था शायद ३० वर्ष से अधिक नहीं होगी। पर उसके मुंह पर इसी अवस्था में झुर्रियां पड़ गई थीं, गालों की हड्डियां साफ़ दिखलाई देने लगी थीं और आंखों के नीचे गढ़े पड़ गए थे। रज्जन उसे यह कहकर खिझाता था—"पावलोवना—तुम हो बड़ी अशोभना !" वह इस अज्ञान बालक के निष्पाप व्यंग का अर्थ नहीं समझती थी। एक दिन मुझसे पूछने पर मैंने इसका अर्थ बतला दिया। तब तो मादमाज़ेल ऐसी बुरी तरह बिगड़ उठी कि हम दोनों पर बेभाव की मार पड़ी। मार खा चुकने पर मैं रज्जन को अपने सोने के कमरे में ले गई और उसे अपने गले से लगाकर उसका मुंह चूमा, उसकी पीठ पर हाथ फेरकर दिलासा दिया। बेंत की चोट से हम दोनों के हाथों में खून उछल पड़ा था और छाले पड़ गए थे। अपने हाथ की परवा न कर अपनी साड़ी के अंचल को मुंह की भाप से गरम कर मैं उसके हाथ सेंकने लगी। भाई की पीड़ा से मेरा कलेजा फटा जाता था। मैं उसके हाथों को सेंकती जाती थी और मेरी आंखों से आंसू बहते जाते थे। रज्जन शायद समझ रहा था कि

में अपने दर्द की वजह से रो रही हूं । इसलिये वह बीच-बीच में पूछ जाता था––"दीदी, क्या बहुत दर्द हो रहा है ?"

उस दिन से हम दोनों ने मार्या पावलोवना का नाम 'मादमाज़ेल पूतना' रख दिया और इस नये आविष्कार से हम दोनों को बहुत प्रसन्नता हुई । और तो क्या, हम कभी कभी उसके सामने भी उसे पुकार बैठते थे––'मादमाज़ेल पूतना' ! वह हमारी ग़लती सुधारकर कहती थी––'पावलोवना कहो !' मैं अँगरेज़ी में कहती––"माफ़ कीजिए, भूल हो गई ! मैं फिर–फिर आपका नाम भूल जाती हूं । क्या कहा––मादमाज़ेल पूतना ?" वह झिड़ककर बोलती––"फिर वही ग़लती!" पर हम लोग बीच-बीच में फिर-फिर वही ग़लती करके इसी नवाविष्कृत नाम का इस्तेमाल करते थे । इस नाम के अर्थ का रहस्य उसे मालूम नहीं था ।

३

मादमाज़ेल हमें अंगरेज़ी पढ़ाया करती थी और यथासंभव अंगरेज़ी में ही बातें करने के लिये बाध्य किया करती थी । इसका फल यह हुआ कि हम लोग बहुत जल्दी शुद्ध अंगरेज़ी बोलना सीख गए। मादमाज़ेल ने हमारे लिये विलायत से चार-पांच साप्ताहिक तथा मासिक पत्र मंगवा दिए। क़िस्से-कहानियों से भरे हुए उन पत्रों को पाकर रज्जन और मैं फूले न समाए । कहानियों का चस्का बड़ा बुरा होता है। हम लोग इस लत में ऐसी बुरी तरह फंस गए कि गवर्नेस से छुट्टी पाते ही खाने-पीने की सुध भूलकर कहानियों के पीछे लग जाते । रज्जन एक कुर्सी पकड़कर एक कोने में बैठ जाता और मैं एक कोच पर बैठकर पढ़ती। जब कोई हँसी की या अचरज-भरी बात होती तो हम एक-दूसरे को सुना दिया करते और फिर चुपचाप अपने मन में पढ़ने लग जाते ।

मेरी अवस्था अब चौदह वर्ष की हो गई थी और रज्जू ग्यारह वर्ष का था। लीला अक्सर अम्मां के साथ रहती थी, पर अब वह भी धीरे-धीरे हम

दोनों के साथ हेलमेल बढ़ाने लगी। काका ने मुझे लड़कियों के एक विद्यालय में भरती करवा दिया। आरम्भ में तो मेरे लिये स्कूल में समय बिताना बड़ा दूभर हो गया। मैं अवसर पाते ही अलग एक कोने में जाकर रोया करती और किसी लड़की से बातें तक न करती। घर लौटकर रज्जन को देखते ही आनन्द से फूली न समाती और पुस्तकों को ज़मीन पर पटककर उसे अपनी दुःखभरी बातें सुनाकर कलेजा ठंडा करती। पर स्कूल की लड़कियां शायद आरम्भ से ही मुझे प्यार करने लगी थीं। इसका कारण मैं ठीक बतला नहीं सकती। शायद मेरे मुख में एक करुण, सुकुमार और स्नेहपूर्ण कान्ति वर्तमान थी, जिसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त मुझे इतनी छोटी अवस्था में ही विशुद्ध अंगरेज़ी बोलते और लिखते देखकर भी शायद सबके हृदय में मेरे प्रति प्रशंसा उमड़ पड़ी थी। हाय, संसार को इसकी क्या ख़बर कि इस विपुल विश्व की भीतरी आत्मा में प्रवेश करने के लिये और भगवान की अज्ञेय पाठशाला में भरती होने के लिये जिस आभ्यंतरिक भाषा की आवश्यकता है उसका ज्ञान न अंगरेज़ी सीखने से हो सकता है, न लैटिन से और न ग्रीक से। दुनिया को यह बात कैसे समझाई जाय कि अंगरेज़ी और फ्रेंच का ज्ञान होना अत्यन्त तुच्छ बात है। भगवान के यहां जिस ज्ञान की क़द्र होती है वह, सम्भव है, एक अशिक्षिततम कृषक-रमणी से भी सीखी जा सके! ख़ैर। इन सब फ़ालतू बातों से मैं अपने पाठक-पाठिकाओं की धैर्यच्युति नहीं करना चाहती। मेरे दर्जे की और बड़े दर्जों की लड़कियां भी मेरे प्रति अकारण प्रीति का भाव प्रदर्शित करने लगीं। पंडितानियां भी मेरे ऊपर मेहरबान थीं। धीरे-धीरे मैं लड़कियों से हिलमिल गई और डिबेट, ड्रामा आदि में भाग लेकर स्कूल-भर में सर्वप्रिय हो गई।

हाई स्कूल पास करके मैं इंटरमीडियेट में चली गई। इस बीच मैंने वहां जो 'अलौकिक ज्ञान' प्राप्त किया उससे परम पुलकित हो उठी। पर रह-रहकर एक अन्यमनस्क भाव अपने सुकुमार और मधुर विषाद की छाया से मुझे

विकल करने लगा। संसार के कोलाहल में सम्मिलित होने पर भी मैं अपने हृदय की निविड़ विजनता में ही दिन बिताने लगी। कभी बगीचे के एक बेंच पर बैठकर शरत्संध्या के सूर्यास्त की स्वर्णच्छटा देखती और हृदय में एक प्रकार की सुकुमार वेदना उमड़ पड़ती। मैं सोचती कि इस धूलिमय कर्मचक्र के परे कहीं अनंगमोहन राजकुमारों और विलासवती परियों की प्रेमलीला आनंद की लहरियों के ऊपर से होकर बहती चलती जाती है, पर मैं यद्यपि परियों से कम रूपवती नहीं हूं, मेरा हृदय यद्यपि परियों के हृदय से कम रसमय नहीं है, तथापि मैं चिरकाल के लिये उस राग-रंगमय लीला से वंचित की गई हूं। नारी-हृदय का मान-अभिमान कितना भयंकर होता है, इसे पुरुष-पाठक कैसे समझेंगे? मुझ मानिनी का हृदय इसी विकट अभिमान के काल्पनिक भाव से फूल उठता था। सुबह को जब मेरी नींद टूटती तो जिस विलासमय वेदना का दीर्घनिःश्वास बरबस मेरे हृदय से निकल पड़ता उसका वर्णन मैं कैसे करूं?

मुझे भय होने लगा कि धीरे-धीरे राजू के साथ मेरा सम्बन्ध विच्छिन्न होता चला जाता है। पर फिर भी हम दोनों के स्नेह-प्रेम के झगड़े और खेल वैसे ही जारी थे। मैं अब भी उसे खिझाती थी। कभी कागज़ की एक गधा-टोपी बनाकर बेमालूम उसके सिर पर डाल देती थी। कभी जब वह कुर्सी पर बैठकर कहानी पढ़ने में व्यस्त रहता तो उसे उठाकर और बातों में भुलाकर कुर्सी को चुपके से पीछे खिसका देती और तब उसे बैठने के लिये कहती। वह ज्योंही बैठने जाता त्योंही धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ता। मैं खिलखिलाकर हँस पड़ती। वह नकियाता हुआ, बड़बड़ाता हुआ उठ बैठता और फिर मुस्कुराकर फ्रेंच भाषा में गाली देते हुए कहता—"आंफां तेरिब्ल!"* हम लोग अब फ्रांसीसी भाषा सीखने लगे थे। कभी ऐसा होता कि मैं राजू को घूंसों से मारती और राजू भी उन घूंसों का जवाब घूंसों से देता। इस घूंसेबाज़ी को देखकर लीला रोती

*बेजा बातें बकनेवाली बालिका।

हुई अम्मां के पास जाती और हमारी शिकायत करके उन्हें बुला लाती। एक दिन इसी तरह हम दोनों की घूंसेबाज़ी चल रही थी। कला की जासूसी के फलस्वरूप अम्मां दबे पांव आ खड़ी हुई। अम्मां को देखकर हम लोग बाघकी तरह डरते थे। हम दोनों सन्न रह गए। अम्मां कुछ मिनटों तक आंखें लाल किए हुए चुपचाप खड़ी रहीं। फिर बोलीं—"शाबाश लज्जा, शाबाश! वाह रज्जू, तू भी बहुत होशियार हो गया है! यही तुम लोगों की पढ़ाई हो रही है? कहां गई मादमाज़ेल पावलोवना? वह रांड़ क्या यों ही दो सौ रुपये लेती है? इधर इन छोकरे-छोकरियों की यह हालत है! कोई देखने वाला नहीं, कोई सुनने वाला नहीं। इनके काका ने इन्हें सिर पर चढ़ा लिया है। जब लकड़ी की मार से इन लोगों की हड्डियां दुरुस्त की जातीं, तब कहीं ये ठिकाने आते! उस गोरी रांड़ की पांचों घी में तर हैं। कुछ मेहनत नहीं, कोई काम नहीं। घूमती-फिरती है, मोटर में सैर करती है, नाच-पार्टियों में जाती है और हराम के दो सौ रुपये हर महीने बैंक में जमा करती है।"

'गोरी रांड़' से अम्मां बेतरह जलती थीं। उनके लिये इसका कारण भी था। उन्हें शायद यह संदेह था कि काका का उसके साथ अनुचित संबंध रहता है। यह संदेह कहां तक सच था, मैं कह नहीं सकती। पर काका के प्रति मेरे मन में यथेष्ट श्रद्धा थी। उनकी तीव्र बुद्धि, विशाल और स्नेहपूर्ण हृदय तथा उन्नत और गंभीर स्वभाव का मुझे गर्व था। अम्मां से मैं अपने मन की कोई भी बात जी खोलकर नहीं कह सकती थी। पर काका से कोई बात छिपा नहीं रखती थी; गुप्त-से-गुप्त बात भी बिना किसी झिझक के कह देती।

कुछ भी हो, अम्मां की झिड़कियों की हमें आदत-सी पड़ गई थी। इसलिये उनके चले जाने पर हम दोनों खूब ज़ोर से हँसने लगे। कला को पकड़कर मैंने उसे अपनी गोद में बैठाया और उसका मुंह चूमकर पूछा—"तूने अम्मां से क्या कहा री पगली?" वह चुप रही। मैंने फिर एक बार

उसे चूमकर कहा—"दीदी और भैया की शिकायत अम्मां से करने गई थी? वह हमें जब मार बैठतीं तब ?"

वह बोली—"क्यों तुम भैया को घूंसों से मार रही थीं ?"

"अच्छा, अबसे नहीं मारूंगी, भैना ! तू भी शिकायत मत करियो। भला ?"

वह बोली—"नहीं करूंगी।"

४

जलियानवाला बाग़ की रक्तोत्तेजक घटना के कारण देश-भर में आत्म-बलिदान का रव गूंज उठा। अलकापुरी के स्वप्नों से मोहाच्छन्न मेरे नव-वसंत-मय हृदय में इस घटना से कुछ आघात पहुंचा; पर बहुत हलका। किंतु राजू एकदम अग्निमय हो उठा। उस समय उसकी अवस्था प्रायः चौदह वर्ष की होगी। इस छोटी अवस्था में ही वह दर्शन-शास्त्र और राजनीतिक विज्ञान के बड़े-बड़े जटिल ग्रंथों के अध्ययन में अपने दिन बिताने लगा। वह ऐंग्लो-इंडियन स्कूल में पढ़ता था। उसने विद्रोह की उत्तेजना के कारण स्कूल में जाना छोड़ दिया। असहयोग आंदोलन के पहले से ही वह असहयोगी हो गया था !

राजनीतिक ग्रंथों का उसने बहुत अध्ययन किया। पर उनसे उसे विशेष संतोष नहीं हुआ। हां, एक बात अवश्य हुई। वह यह कि उसे गंभीर विषयों के अध्ययन का चस्का लग गया। आज तक वह मेरी ही तरह केवल तुच्छ क़िस्से-कहानियों की किताबों को ही पढ़ा करता था। अब वह दर्शन, इतिहास, फिजिक्स, केमिस्ट्री, बायोलाजी, और तो क्या डॉक्टरी की किताबों को भी मननपूर्वक पढ़ने लगा। पाठकों को अवश्य ही मेरी इस बात पर आश्चर्य होगा और यह अवश्य ही औपन्यासिक अत्युक्ति समझी जायगी। इतनी छोटी अवस्था में ऐसे-ऐसे गहन विषयों पर मनन करने की प्रवृत्ति का होना आश्चर्य की ही बात है, इसमें संदेह

नहीं । पर उसकी बुद्धि कैसी असाधारण थी और उसकी स्मरणशक्ति कितनी तीव्र थी, यह बात वे लोग जानते हैं जिन्होंने उसे देखा है । केवल बुद्धि ही नहीं, उसकी ज्ञान-पिपासा भी अत्यंत उत्कट थी । वह पबलिक लाइब्रेरी में जाकर घंटों वहीं समय काट देता ।

अचानक उसे साहित्य की धुन सवार हुई । संसार-साहित्य के पुराने और कीड़ों द्वारा नष्ट किए गए ग्रंथों से लेकर आधुनिकतम साहित्यिक रचनाओं का रस वह ग्रहण करने लगा । हमारे कुटुम्ब में स्वदेशीपन का ज़ोर होने पर भी हिंदी की चर्चा आवश्यकता से भी कम हुआ करती थी । हिंदी की कोई भी मासिक-पत्रिका हमारे यहां नहीं आती थी । फ्रेंच और अंगरेज़ी के चटकीले-भड़कीले पत्र-पत्रिकाओं से ही सब आलमारियां भरी रहती थीं । रज्जन ने झट हिंदी की दो तीन प्रतिष्ठित पत्रिकाएं मंगवाईं । अब वह हिंदी लिखने का अभ्यास करने लगा और थोड़े ही दिनों में एक कविता लिखकर मेरे पास ले आया । उसकी यह नयी मनोवृत्ति देखकर मैं हँसते-हँसते लोटपोट हो गई । उसकी कविता का अर्थ मैं कुछ भी समझ न पाई, केवल हँसते-हँसते मेरे पेट में बल पड़ गए । उस कविता की पहली दो पंक्तियां मुझे अभी तक याद हैं:—

इस निष्ठुर भौतिक लीला का पार नहीं पाया भगवान् !
दहल-दहल उठता है यह दिल सुन-सुनकर पैशाचिक गान !

असल में इस कविता में हँसने की कोई बात नहीं थी । बल्कि उत्कट विभीषिका का विष ही उसमें मथित हुआ था । पर मुझे कविता पर हँसी नहीं आई थी । हँसी आई थी रज्जन की ख़ामख़याली पर । रज्जन ने वह कविता काका को दिखलाई । काका ने उसकी हार्दिक प्रशंसा की और इतने प्रसन्न हुए कि तत्काल एक हज़ार रुपये का चेक लिखकर पुरस्कार-स्वरूप रज्जन को प्रदान कर दिया । उस समय रज्जन की सुंदर देदीप्यमान आंखों में जो तीव्र उल्लास व्यक्त हुआ था वह अब तक मेरी आत्मा में अंकित है । भाई की योग्यता के गर्व से मेरी छाती फूल उठी । मैं यह बात

नहीं छिपाना चाहती कि राजू को एक साथ एक हज़ार का पुरस्कार पाते देखकर मेरे हृदय में नारी-सुलभ विद्वेष का भाव भी कुछ-कुछ जागरित हुआ था; पर इसके साथ ही उसके प्रति आंतरिक स्नेह भी द्विगुण वेग से उमड़ चला।

अपने कमरे में ले जाकर राजू ने मुझे उस कविता का भीतरी मर्म समझाया। एसीरिया, बेबिलोनिया, मिसर और रोम की प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन उसने खूब अच्छी तरह से किया था। उसने समझाया कि भौतिक सभ्यता की राक्षसी शक्ति उन्मत्त लास्य-लीला की कैसी कैसी करामातें दिखला सकती है। बेबिलोनिया में हज़ारों टनों के वज़न की प्रकांड मूर्त्तियां लाखों दासों द्वारा सारे शहर में फिराई जाती थीं। जगत्-प्रसिद्ध ईफ़ेल टॉवर से भी ऊँची गगनचुंबी मीनारें; सड़क के हज़ारों फ़ीट ऊपर आकाश-मार्ग से होकर जाने वाले, मीलों तक विस्तृत राज-पथ; ना- रंग और पाशविक आमोद-प्रमोद के लिये रचे गए एक-एक वर्ग मील तक से फैले हुए सुविशाल विलास-वक्ष; जीवन के आनंद से अपरिचित, स्वाभाविक स्वातंत्र्य से वंचित, असंख्य दास-दासियों का बाज़ार में क्रय-विक्रय, आदि अनेक रहस्यपूर्ण तथा रोचक ऐतिहासिक बातों का विस्तृत वर्णन करके उसने कहा कि सात हज़ार वर्ष पूर्व की इस घोर राक्षसी एसीरियन सभ्यता ने अपनी उन्मत्त शक्ति के विलास से मानव-जीवन को कितना निरानंद बना दिया था! मिसर की सभ्यता का भी यही हाल था। रेगिस्तान के बीच में दिल को दहला देने वाले, आत्मा को आतंक से कंपित कर देने वाले, भीषणाकार ठोस पिरामिडों के निर्माण में कितने असंख्य नर-मुंडों का संहार हुआ होगा, इसकी क्या कोई व्यक्ति कल्पना भी कर सकता है! वहां के 'फिरौन' वंश की ख़ामख़्यालियों को तृप्त करने के लिये मानवी आत्मा का रस कितनी निर्दयता के साथ निचोड़ा गया था, इसका क्या कुछ ठिकाना है! रोम के 'कॉलीजियम' तथा अन्य प्रकांड विलास-गृहों में धनी दर्शक-गण किस प्रकार गुलामों की निष्ठुर संहार-लीला देखकर तृप्त होते थे और राज्य-विस्तार के लोभ से सीज़र प्रमुख शासकगण किस प्रकार महा-

युद्धों में असंख्य नरों का विनाश साधित करने में व्यस्त रहते थे, यह बात उसने विस्तारपूर्वक समझाई। उसने कहा—"तब से आज तक मानव-जाति उसी प्रबल भौतिक शक्ति के ताड़न से क्षत-विक्षत होती आई है। वर्तमान विष-भरी सभ्यता की फुफकार उसी प्राचीन गर्जन की प्रतिध्वनि है। धर्म-ग्रंथों में कहा गया है कि ईश्वर दयामय है। यदि शक्ति के ताड़न से आहत असंख्य प्राणियों के हृदय-विदारक हाहाकार के प्रति वज्र-उदासीनता को ही दया कहते हैं, तो निर्दयता शब्द ही निरर्थक है। कर्म-फल का सिद्धांत बिलकुल ढोंग है। जो असहाय, अशिक्षित, कर्मजीवी लोग अपने अस्तित्व का ही अर्थ नहीं समझते, उन्हें कर्मों का दंड देना कभी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे सरल-प्रकृति, दीन-हीन व्यक्तियों के ऊपर पाप-पुण्य का ढकोसला आरोपित करना अतिशय क्रूरता है।"

विश्व-नियंत्रिणी किसी अज्ञात शक्ति के प्रति व्यर्थ आक्रोश से गर्जन करते हुए राजू बोला—"इन्हीं सब बातों को सोचकर मैं पागल हुआ जाता हूँ, दीदी! मानव-जीवन का क्या अर्थ है, मनुष्य की अत्यंत जटिल प्रकृति का क्या नियम है, कोई व्यक्ति दस वर्ष जीए या सौ वर्ष, इससे क्या फ़र्क पड़ता है, राजनीतिक चर्चा, समाज-सुधार, ग्रंथ-रचना, देशोद्धार और विश्व-विजय में रत रहने से मनुष्य सचमुच अपनी उन्नति कर सकता है या नहीं, इन सब विचारों से मेरा चित्त ठिकाने नहीं है। संसार के सभी श्रेष्ठ ज्ञानियों की रचनाओं का अध्ययन मैंने किया है। पर सभी की बातें मुझे निखिलव्यापी निष्ठुरता के सामने पोपली लगती हैं। संसार के प्राचीन और आधुनिक नेताओं के सयानेपन के ढोंग से मेरी आत्मा भड़क उठती है—जैसे सृष्टि का सारा रहस्य इन लोगों के करतल-गत हो गया हो! इस अव्यक्त चक्र के व्यक्त पैशाचिक अट्टहास का मर्म अज्ञेय और अज्ञात है—इसे जानने की चेष्टा न कर, इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये प्रवृत्त न होकर जो लोग वाह्य कर्मों से मानव-जाति के उपकार का पाखंड रचते हैं, वे प्राकृतिक अत्याचार के ऊपर अपना

अत्याचार और जोड़कर चिर-पीड़ित मानव-समाज को और भी अधिक भार-ग्रस्त करते हैं।"

कौतूहल, भय, विस्मय और हर्ष ने एक साथ मिलकर मेरे हृदय को आंदोलित कर दिया। मैंने स्पष्ट देखा कि मेरा यह असाधारण भाई संसार के रात-दिन के तुच्छ सुख-दुःख में लिप्त होने के लिये पैदा नहीं हुआ है। उसकी चिंता-धारा उसे किस अपरिचित लोक को खींचे लिए जाती है, यह सोचकर मैं आतंक से कांप उठी। जिस भाई को मैं अपने तुच्छ जीवन के संकीर्ण मंडल के भीतर बांधकर अपना ही समझे बैठी थी, आज उसके बंधन-मुक्त होने की प्रवृत्ति से परिचित होकर भय-विह्वल-सी हो गई।

६

यदि सच पूछा जाय तो उस समय में रज्जन को अच्छी तरह से समझ भी नहीं पाई थी। आज समझने लगी हूं। भीतर ही भीतर प्रतिभा की कैसी उत्तप्त आंच से पीड़ित होकर वह छटपटा रहा था! भगवान बुद्ध एक दिन इसी भीषण ज्वाला से झुलसे थे। बुद्ध की और उसकी विचार-धारा में बहुत कुछ अंतर था, इसमें संदेह नहीं। पर अग्नि चाहे किसी भी रूप में हो, उसका गुणधर्म सदा एक-सा रहता है। अगर मेरे कारण उसकी हत्या न हुई होती तो आज संसार देखता कि विजन अंधकार का जो वह तारा शीतल-भाव से टिमटिमा रहा था उसके भीतर प्रलयांतक वह्नि-ज्वाला लेलिहान हो रही थी। पर अब इन फ़ालतू बातों से क्या फ़ायदा!

कुछ भी हो, मैं समझ गई कि इस भाई को मैं प्यार किए बिना नहीं रह सकती, पर उसका साथ किसी प्रकार नहीं दे सकती। मैं अपने नव-मल्लिका-मय, मलय-कोमल, मोहाच्छन्नकारी, मधुमय स्वप्नों को लेकर ही दिन बिताने लगी। खाते-पीते, सोते-जागते मुझे अपने भीतर अव्यक्त रूप

में स्फुरित हुए मृग-मद का सौरभ आकुल करने लगा। रज्जू प्रकृति के भीतर शक्ति की कठोरता को देखकर त्रस्त था, मैं उसी के कुसुम-कोमल मायास्पर्श से पिघली पड़ती थी।

हाय हतभागिनी नारी! पुरुष के बिना तुम्हारा जीवन ही नहीं है। पुरुष को लेकर ही इस अनंतव्यापी, 'ईथर'-प्रकंपित सृष्टि में तुम्हारी सत्ता है; अन्यथा तुम शून्य की तरह निस्तरंग, जड़ और निर्विकार हो। पुरुष को अपने हृदय की कमनीय सुकुमारता से रिझाने में ही तुम्हारी सार्थकता है। एक ओर तुम पुरुष के बलिष्ठ स्वभाव की गरिमा का प्रभाव अपने ऊपर अनुभव करके विकल पुलक से रोमांचित हो उठती हो, दूसरी तरफ़ अनंत-संख्यक पुरुषों को अपने रूप-जाल में दृढ़ता से जकड़े बिना तुम्हारी अतृप्त आत्मा छटपटाती रहती है। हे निष्ठुरा, मायाविनी, चक्रिणी नाग-कन्या! पुरुष-जाति के बलिष्ठ और उन्नत प्रेम के बिना तुम मृत हो, तथापि उसी के विनाश का संकल्प करके तुम सृष्टि में अवतरी हो! हे बालभक्षिणी, भ्राता-संहारिणी पूतना! संतान के सुमंगल स्नेह से ही तुम रसवती हो, तथापि उसी के निग्रह, उसी की हत्या का व्रत तुमने लिया है! हाय, मुझे कौन बतावेगा कि मैं किस जन्म में और कैसे नारी-योनि से मुक्ति पाकर या तो पुरुष-योनि या पक्षी की योनि में जन्म ग्रहण करूंगी! यदि पुरुष-योनि में मेरा जन्म हो सकेगा तो सृष्टि के नाना कर्मों में सम्मिलित होकर, मृत्यु के दुस्तर सागर को पार करके अंत में अमृतमय आनंदरूप में एक-प्राण हो जाऊंगी। यदि पक्षी-योनि में जन्म लूंगी तो जीवन-मृत्यु, पाप-पुण्य और स्नेह-प्रेम के बंधन से मुक्त होकर द्विधाहीन और चिंताहीन भाव से विशुद्ध सौंदर्य और निर्लेप उमंग के रस में डूबी रहूंगी।

कहां हो तुम अनुपम-रूपवती, ग्रीक-सुंदरी हेलेन! एक जमाना था जब तुमने समस्त पुरुष-जाति को अपने अलौकिक रूप के बल से अपने अंचल के मृत्यु-मोहक जाल में जकड़ लिया था। हाय, रक्त-पिपासिनी, पुष्प-कोमलांगी दैत्य-बाला! तुम्हारे ही लिये ट्रॉय के प्रलयांतक युद्ध में असंख्य नर-मुंडों का विनाश हुआ था। अपने रूप के शाणित अस्त्र की

परीक्षा में रत रहकर अंत को तुमने अपना ही विनाश किया था। अस्त्र-परीक्षा की यही घातक प्रवृत्ति मेरे हृदय में भी एक बार धधक उठी थी। ग्रीस देश के बड़े बड़े कवियों ने अपने काव्यों में तुम्हारी ही गाथा गाई है। संभव है, इस पिशाचिनी नारी की रूप-गाथा भी भविष्य में कोई कवि वर्णित करेगा। पर स्त्री-हृदय की राक्षसी वृत्ति का पार क्या वीर और सहृदय पुरुष-जाति कभी पा सकती है ?

७

पर इसी पुरुष-जाति ने मुझे कितना धोखा दिया है, यह बात मैं किस मुंह से और कैसे लोगों को समझाऊं ? स्त्री-जाति के प्रति मेरे हृदय में घातक भाव उमड़ पड़े हैं, इसमें संदेह नहीं। पर पुरुष के प्रति भी तो प्रतिहिंसा से मेरी आत्मा रह-रहकर उ ल उठती है ! नाश ! नाश ! मेरे लिये कोई आशा शेष नहीं रह गई है, देवता !....

काका के पास मिलनार्थी लोगों के आने-जाने का तांता नित्य लगा रहता था। मैं भी अक्सर उनके कमरे में आलस्य के भार से झूमती हुई, बिना किसी उद्देश्य के, उनकी बग़ल में बैठ जाया करती थी, और यद्यपि मैंने प्रथम यौवन में पदार्पण कर लिया था, तथापि बच्चों की तरह भरी सभा में उनके गले से लिपट जाती थी। कारण क्या था, मैं कह नहीं सकती, पर काका मुझे ही सबसे अधिक प्यार करते थे। मैं उनके मुंह लगी हुई थी और वह मेरी सब हठों और ज्यादतियों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करते थे।

प्रकट में यद्यपि मैं बिना उद्देश्य के आती थी, तथापि एक अस्पष्ट उद्देश्य मेरे अन्तस्तल में वर्तमान रहता था। वह उद्देश्य था लुब्ध और मुग्ध पुरुषों को अपने अतुल रूप से छकाने का। हाय अधम नारी !

अधिक करके राजनीतिक चर्चा ही वहां छिड़ी रहती थी। यद्यपि मुझे राजू की तरह ज्ञान की पिपासा नहीं थी, फिर भी मदमाती आंखों से

संसार को देखकर, अलसाते हुए मन से संसार की सभी बातें सुनने का शौक़ रखती थी। दुनिया की सभी नयी-नयी बातों में मुझे क़िस्से-कहानियों का-सा रस मिलता था। इसलिए काका के पास एकत्रित हुए व्यक्तियों पर अपने अस्त्र की परीक्षा में रत रहकर मैं सभी बातें सुना करती थी। न तो किसी पुरुष के दर्शन से मेरे हृदय में अधिक प्रभाव पड़ता था, न किसी के दर्शन से कम। केवल सबकी समष्टि के सामंजस्य से मेरा हृदय उल्लसित हो उठता था। जब इस नित्य की परिचित सभा से लौटकर मैं अपने कमरे में आती तो एक आकाश-पातालव्यापी अवसाद के भाव से मेरा हृदय दब जाता था। तब मैं रोने की इच्छा होने पर भी नहीं रो सकती थी, सोचने पर भी कुछ सोच नहीं सकती थी। केवल अपने अकेलेपन से घबराकर कांप उठती थी।

अचानक इस वैचित्र्यहीन पुरुष-समाज के चिर-पुरातन वायु-मंडल के ऊपर अपनी नवीनता से तरंगित होते हुए दो पूर्ण-यौवन-प्राप्त असाधारण युवक कैसे और कब से मेरी आंखों को विशेष रूप से अपने अधिकार में करने लगे, आरंभ में मुझे इसका कुछ पता भी न चला। इन दोनों में से एक सज्जन डाक्टर थे। उनका नाम कन्हैयालाल था। दूसरे महाशय कालेज के प्रोफ़ेसर थे। उनका नाम किशोरीमोहन था। प्रोफ़ेसर साहब को तो मैं पहले से ही जानती थी। वह हमारे कालेज की छात्रियों को एक घंटा अंगरेज़ी पढ़ाने के लिए आया करते थे। पर आज तक उनसे मेरा संबंध केवल गुरु-शिष्य का था। अब मुझे उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होने की आशा हुई। डाक्टर साहब को मैं पहले बिलकुल नहीं जानती थी। इन दोनों मित्रों के शुभागमन से मेरे जीवन का इतिहास विशेष रूप से संबंधित है। इसलिए इसी विषय की चर्चा में मुख्य रूप से करूंगी।

बहुत संभव है, इस अभागिनी की कहानी को पढ़ने वाली कुछ ऐसी पाठिकाएं भी होंगी जो पति की पूजा में, बाल-बच्चों के पालन में, अतिथि-

अभ्यागतों की सेवा में, समस्त संसार के मंगलार्थ तीज और मंगल के पुण्य व्रत रखने में, कल्याणीया देवी की तरह घर-गिरस्ती के काम-काज में रत रहकर बड़ी कठिनाई से फ़ालतू किताबों के पढ़ने के लिए समय निकालती होंगी । इन सब देवियों को मंगल-कर्मों से अनभिज्ञ इस पापिनी की बातें बिलकुल अनोखी और अचरज-भरी जान पड़ेंगी । मैं जानती हूं कि मेरी कथा संसार से निराली है । मैं पुण्यमय गार्हस्थ्य जीवन से अनभिज्ञ हूँ । पर फिर भी सभी नारियों की तरह मेरी नसों में भी तो प्राण की वही एक ही धारा बह रही है ! हे मेरी प्यारी माताओ और बहनो ! इस अधम नारी के हृदय में चाहे कितनी ही घृणा भरी हो, पर मैं प्रार्थना करती हूं, तुम अपनी पवित्र आत्माओं को घृणा से मलिन न कर मेरी दुःख-भरी पाप-पूर्ण बातों के ऊपर अपनी सुकुमार करुणा और सहृदयता का अमृत बरसा दो !

८

डाक्टर कन्हैयालाल और प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन में गाढ़ी मित्रता थी । दोनों फुर्तीले, बोलने में तेज़, बातें बनाने में कुशल और सभा-चतुर थे । तुच्छ-से-तुच्छ घटना पर भी ये मित्रद्वय अपने रचना-कौशल से ऐसा महत्व आरोपित कर देते थे और उसे इस तरह रोचक बना देते थे कि सब सुनने वाले दंग रह जाते । थोड़े ही दिनों में इन मिलनसार मित्रों ने काका की सारी सभा में अपनी धाक जमा दी । शायद काका को इन दोनों का भीतरी हाल मालूम हो गया था । कारण कुछ भी हो, काका उनके वाक्-चातुर्य से बिलकुल भी विचलित-से नहीं दीख पड़े । मुझे यह बात बहुत खटकी । मैं जी से चाहती थी कि काका के साथ उनकी घनिष्ठता बढ़े और मेरी ही तरह काका भी उनके प्रति आकृष्ट हों । पर इसके कोई चिन्ह नहीं दिखलाई दिए ।

उस दिन कालेज में छुट्टी थी । दोपहर के समय काका अपने कमरे में अकेले बैठकर कुछ अखबारों को मेज़ पर रख कर शायद कोई देशहित-

संबंधी लेख लिख रहे थे । मैं उनकी एकाग्र चिन्ता में विघ्न डालने के लिये बिना इत्तिला के भीतर घुस गई ।

काका ने पूछा—"क्या काम है ?"

मैंने कहा—"काम कोई नहीं । यों ही अख़बार पढ़ने आई हूं ।"

बोले—"अख़बार ले जाओ । अपने कमरे में पढ़ो ।"

मैं झूठ बोल गई थी । असल में मैं अख़बार पढ़ने नहीं, पर काका के साथ व्यर्थ की बकवाद कर के अपना दिल बहलाने आई थी ।

मैंने उनकी बात पर ध्यान न देकर कहा—"क्या लिख रहे हो, काका ?"

"एक ज़रूरी लेख ।"

"किस विषय में है ?"

काका ने आधा लिखा हुआ वह लेख मेरी तरफ़ को खिसकाकर कहा—"इसे ज़ोर से पढ़ो । कोई ग़लती रह गई हो तो सुधार लेंगे ।"

मैं उस अंगरेज़ी लेख को पढ़ने लगी । इतने में नौकर ने आकर कहा—"दो आदमी मिलना चाहते हैं ।"

दो आदमियों के लिये बैठक के कमरे में जाना फ़िज़ूल समझकर काका ने उन्हें उसी कमरे में लिवा लाने का हुक्म दे दिया ।

चकित होकर मैंने देखा कि मेरे मनोवांछित वही दो मित्र हैं । मैंने विस्मय-भरी दृष्टि से दोनों की ओर ताका । उन दोनों ने भी मृदु-मंद मुसकान से मेरी ओर ताककर शायद यह प्रकट किया कि मेरे प्रति वे लोग उदासीन नहीं हैं । काका ने रूखी हँसी हँसकर दोनों का अभिवादन किया ।

पहले प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन बोले—"माफ़ कीजिए, हमारे आने से आपके काम में विघ्न पड़ गया ।"

काका ने पूर्ववत् रुखाई के साथ हँसकर कहा—"नहीं, कोई ऐसा विघ्न नहीं हुआ ।"

अपनी झेंप प्रोफ़ेसर साहब ने शायद पहले ही मिटा लेनी चाही । इसलिये काका के बिना कुछ पूछे ही बोले—"हम लोगों का कोई ऐसा ख़ास काम तो था नहीं । यों ही आपके दर्शनार्थ चले आए ।"

न मालूम क्यों, मैंने उसी दम यह कल्पना कर ली कि काका मन-ही-मन व्यंग के तौर पर कहेंगे—"बड़ी कृपा की ।" कह नहीं सकती कि वास्तव में उन्होंने मन में क्या सोचा । पर वह बिना कुछ उत्तर दिए उसी रुखाई के साथ हँसते रहे । मुझे उनकी रुखाई बहुत अखर रही थी ।

कुछ देर तक सब चुप रहे और कमरे में सन्नाटा छा गया । यह सन्नाटा बड़ा अशोभन जान पड़ा । मैं अच्छी तरह से जानती थी कि काका यदि चाहते तो बिना किसी चेष्टा या कष्ट के इस अनिच्छित और अनुपयुक्त निस्तब्धता को भंग करके कोई भी रोचक चर्चा छेड़ सकते थे । पर वह जान-बूझकर चुप थे और शायद दो मित्रों की घबराहट और असमंजस-भाव देखकर तमाशे का आनन्द लूट रहे थे । मुझे दोनों मित्रों पर भी क्रोध आया और काका के ऊपर भी । मित्रद्वय पर इसलिये कि आज अचानक उनकी वाक्शक्ति की चपलता बिलकुल तिरोहित हो गई थी । मैंने सोचा कि काका के सामने जिन व्यक्तियों की ज़बान ही बन्द हो जाती है वे उनसे मिलने के अधिकारी ही नहीं हैं । काका की निष्ठुर आमोद-प्रियता पर क्रोध आया ।

काका के स्वभाव से दोनों मित्र भली भांति परिचित नहीं थे । उन्हें ख़बर नहीं थी कि समाज में उनकी धाक यों ही नहीं जमी है । उनकी हठकारिता, व्यंगप्रियता, बुद्धि की तीक्ष्णता, तेजस्विता और सिद्धान्त-दृढ़ता के कारण ही उनकी इतनी प्रतिष्ठा है । अपने ओछे स्वभाव और छिछले ज्ञान की चपलता से लँहगा-मजलिस में डींग मारने वाले ये

संबंधी लेख लिख रहे थे । मैं उनकी एकाग्र चिन्ता में विघ्न डालने के लिये बिना इत्तिला के भीतर घुस गई ।

काका ने पूछा—"क्या काम है ?"

मैंने कहा—"काम कोई नहीं । यों ही अख़बार पढ़ने आई हूं ।"

बोले—"अख़बार ले जाओ । अपने कमरे में पढ़ो ।"

मैं झूठ बोल गई थी । असल में मैं अख़बार पढ़ने नहीं, पर काका के साथ व्यर्थ की बकवाद कर के अपना दिल बहलाने आई थी ।

मैंने उनकी बात पर ध्यान न देकर कहा—"क्या लिख रहे हो, काका ?"

"एक ज़रूरी लेख ।"

"किस विषय में है ?"

काका ने आधा लिखा हुआ वह लेख मेरी तरफ़ को खिसकाकर कहा—"इसे ज़ोर से पढ़ो । कोई ग़लती रह गई हो तो सुधार लेंगे ।"

मैं उस अंगरेज़ी लेख को पढ़ने लगी । इतने में नौकर ने आकर कहा—"दो आदमी मिलना चाहते हैं ।"

दो आदमियों के लिये बैठक के कमरे में जाना फ़िजूल समझकर काका ने उन्हें उसी कमरे में लिवा लाने का हुक्म दे दिया ।

चकित होकर मैंने देखा कि मेरे मनोवांछित वही दो मित्र हैं । मैंने विस्मय-भरी दृष्टि से दोनों की ओर ताका । उन दोनों ने भी मृदु-मंद मुसकान से मेरी ओर ताककर शायद यह प्रकट किया कि मेरे प्रति वे लोग उदासीन नहीं हैं । काका ने रूखी हँसी हँसकर दोनों का अभिवादन किया ।

पहले प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन बोले—"माफ़ कीजिए, हमारे आने से आपके काम में विघ्न पड़ गया ।"

काका ने पूर्ववत् रुखाई के साथ हँसकर कहा—"नहीं, कोई ऐसा विघ्न नहीं हुआ।"

अपनी झेंप प्रोफ़ेसर साहब ने शायद पहले ही मिटा लेनी चाही। इसलिये काका के बिना कुछ पूछे ही बोले—"हम लोगों का कोई ऐसा खास काम तो था नहीं। यों ही आपके दर्शनार्थ चले आए।"

न मालूम क्यों, मैंने उसी दम यह कल्पना कर ली कि काका मन-ही-मन व्यंग के तौर पर कहेंगे—"बड़ी कृपा की।" कह नहीं सकती कि वास्तव में उन्होंने मन में क्या सोचा। पर वह बिना कुछ उत्तर दिए उसी रुखाई के साथ हँसते रहे। मुझे उनकी रुखाई बहुत अखर रही थी।

कुछ देर तक सब चुप रहे और कमरे में सन्नाटा छा गया। यह सन्नाटा बड़ा अशोभन जान पड़ा। मैं अच्छी तरह से जानती थी कि काका यदि चाहते तो बिना किसी चेष्टा या कष्ट के इस अनिच्छित और अनुपयुक्त निस्तब्धता को भंग करके कोई भी रोचक चर्चा छेड़ सकते थे। पर वह जान-बूझकर चुप थे और शायद दो मित्रों की घबराहट और असमंजस-भाव देखकर तमाशे का आनन्द लूट रहे थे। मुझे दोनों मित्रों पर भी क्रोध आया और काका के ऊपर भी। मित्रद्वय पर इसलिये कि आज अचानक उनकी वाक्‌शक्ति की चपलता बिलकुल तिरोहित हो गई थी। मैंने सोचा कि काका के सामने जिन व्यक्तियों की ज़बान ही बन्द हो जाती है वे उनसे मिलने के अधिकारी ही नहीं हैं। काका की निष्ठुर आमोद-प्रियता पर क्रोध आया।

काका के स्वभाव से दोनों मित्र भली भांति परिचित नहीं थे। उन्हें ख़बर नहीं थी कि समाज में उनकी धाक यों ही नहीं जमी है। उनकी हठकारिता, व्यंगप्रियता, बुद्धि की तीक्ष्णता, तेजस्विता और सिद्धान्त-दृढ़ता के कारण ही उनकी इतनी प्रतिष्ठा है। अपने ओछे स्वभाव और छिछले ज्ञान की चपलता से लँहगा-मजलिस में डींग मारने वाले ये

दो वीरवर शायद समझे बैठे थे कि काका पर भी अपने 'व्यक्तित्व' की धौंस जमा सकेंगे। हाय काका! मानव-चरित्र से परिचित होने के कारण तुम पहले ही इन लोगों की पोल पहचान गए थे।

६

पांच मिनिट तक सन्नाटा रहा होगा। पर इतना ही समय एक युग के बराबर बीता। संकोच, घृणा और ग्लानि के मिश्रित भाव से मेरी पीठ की रीढ़ से होकर कांटे चुभने की-सी हलकी वेदना और मैलेरिया बुख़ार की-सी कंपकंपी दौड़ गई। बातें बनाने में डाक्टर कन्हैयालाल दोनों में ज्यादा होशियार थे। दोनों में अधिक रूपवान भी वही थे। उनके रूप की सब से अधिक विशेषता उनकी आंखों और मूंछों में थी। उनकी लम्बी-लम्बी, बड़ी-बड़ी आंखों की चितवन में एक ऐसा नशा-सा रहता था जिसका वर्णन मैं ठीक तरह से नहीं कर सकती। स्वामी विवेकानन्द को मैंने कभी नहीं देखा। मेरे पैदा होने के समय वह इस संसार में थे या नहीं, यह भी मुझे ठीक मालूम नहीं। पर उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के चित्रों का एलबम मैंने अवश्य देखा है। परिणत युवावस्था में और उसके बाद उनकी आंखों में जो एक नशीला उद्दीप्त भाव प्रतिक्षण झलका करता होगा उसी क़िस्म की झांई डाक्टर कन्हैयालाल की आंखों में भी मैंने पाई। मुझे यह सोचकर बड़ा आश्चर्य होता था कि आचार-विचार में स्वामी विवेकानन्द के पैरों की धूल झाड़ने के योग्य न होने पर भी यह अद्भुत सादृश्य कैसा! उनकी मूंछों में और भी अधिक विशेषता थी। जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट्, पुरुष-सिंह क़ैसर विलहेल्म की शेरबबर की-सी मूंछें जगत्-विख्यात हैं। जिन लोगों ने क़ैसर की पक्षपात-रहित जीवनी पढ़ी है और उनका चित्र देखा है, वे जानते हैं कि इन मूंछों के रौब का कैसा महत्व था। डाक्टर साहब की बड़ी-बड़ी, घनी-घनी, काली-काली, सिरों पर ऊपर की तरफ़ को मुड़ी हुई मूंछों में भी वही रौब था। पर यह होने पर भी क़ैसर के स्वभाव और चरित्र का भीतरी सादृश्य डाक्टर साहब में बिलकुल भी नहीं

पाया जा सकता था । प्रकृति की इस अद्भुत ख़ामख़याली की धोखेबाज़ी से मुझे पीछे बहुत कुछ शिक्षा मिली थी, इसमें सन्देह नहीं । पर उस समय तो मैं इसे देखकर चकरा गई थी । हाय ! नेपोलियन ने भी अपनी ज़नानी सूरत से संसार को छला था । उसकी सूरत देखकर कौन कह सकता था कि यह दुबला-पतला, नपुंसक के समान रूपवाला व्यक्ति विश्व-विजय करने के योग्य है ! डाक्टर साहब का बाह्य रूप देखकर भी कोई यह नहीं कह सकता था कि इस सिंह के समान दर्शनीय पुरुष के भीतर नपुंसकोचित भाव छिपे होंगे ।

कुछ भी हो, वह अखंड नीरवता पहले डा० कन्हैयालाल ने ही भंग की। वह बोले—"आज मेरे पास एक देवी जी आई थीं । वह अपने इलाज के लिये आई थीं, पर उनसे कई और भी बातें हुईं । उन्होंने एक यह नया विचार प्रकट किया कि ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के आगामी अधिवेशन में यह प्रस्ताव पेश किया जाय कि हिन्दोस्तान-भर की सब वेश्याओं को कांग्रेस की सदस्या बनाने के लिये देश-भर में प्रचार-कार्य होना चाहिए । उन्होंने सुझाया है कि वेश्याओं में सार्वजनिक जीवन की वृत्ति जागरित होने से उनका पतित जीवन भी सुधर सकेगा और देश को भी सहायता मिलेगी । 'फ़ीमेल इमेंसिपेशन' की हवा जितनी जल्दी वेश्याओं में फैल सकती है उतनी गृहस्थ स्त्रियों में नहीं । मेरे विचार में भी वेश्याओं के सुधार के आन्दोलन का आरम्भ इसी ढंग से होना चाहिए । यह तरीक़ा 'प्रेक्टिकेबल' भी है ।"

मैं डाक्टर साहब की बातें भी सुन रही थी, और बीच-बीच में उत्सुकता-पूर्वक काका के चेहरे के भावों पर भी ध्यान देती जाती थी । उनके मुखमंडल में व्यंग की चिर-परिचित हँसी धीरे-धीरे स्फुरित होती जाती थी । अन्त को वह हँसी चमकती हुई तलवार की तरह निष्ठुरतापूर्वक झलक उठी ।

वह बोले—"जी हां, इसमें क्या शक ! आपकी बात बिलकुल सही

है। सुधार हो तो वेश्याओं का हो ! वेश्या-सुधार के विना देशोद्धार का लुत्फ़ ही जाता रहता है। इसलिये आजकल के 'डॉन क्विकजोट'—सम्प्रदाय की प्रवृत्ति ही इस ओर है। 'पतित बहनें', 'फ़ालन सिस्टर्स', "अभागिनी देवियां" आदि कानों को ठंढक पहुंचाने वाले नामों से वेश्याओं के प्रति समवेदना प्रकट की जा रही है। यह देश के कल्याण के ही चिह्न हैं, इसमें सन्देह ही किस बात का ! इधर घर की औरतें जूतों से ठुकराई जा रही हैं, भगवान की इस आनन्दमयी सृष्टि में उनकी कोई सत्ता ही नहीं मानी जाती। भाग्य के परिहास से हमारे देश में भी अब यह बात देखी जाती है कि पुरुषों के राजनीतिक जीवन का ढकोसला प्रकृति के आदर्श के अनुकूल समझा जाने लगा है और स्त्रियों की घर-गिरस्ती का मंगलमय जीवन—जिसके कारण ही इस दुःखमय सृष्टि का कुछ अर्थ हो सकता है—अत्यन्त तुच्छ, अकिंचित्कर, बेकार और 'सुपरफ्लुअस' समझा गया है। धीरे-धीरे हमारे समाज में यह धारणा बद्धमूल होती जाती है कि सार्वजनिक जीवन ही स्त्रियों की उन्नति का मूल है, इस जीवन के बिना स्त्रियों का अस्तित्व ही अर्थ-रहित है। रात-दिन सास-ससुर, पति-पुत्र, माता-पिता और भाई-बहन की निष्काम सेवा में रत रहकर हमारे गांवों की अशिक्षिता स्त्रियां जीवन-चक्र में अपनी इच्छा से पिसती जाती हैं और कर्म के कोल्हू में अपने हृदयों को पेरकर उनका तेल निकालने में लगी है—इस सुदुर्लभ और अत्यन्त उन्नत आत्म-त्याग की महत्ता पर कोई ध्यान देना नहीं चाहता। आत्म-त्याग की महत्ता अब केवल सभा-समितियों में व्याख्यान देने और कौंसिलों में प्रतिपक्षी दल का श्राद्ध करने में ही रह गई है।"

काका अम्मां के जीवन से सम्भवतः यथेष्ट शिक्षा पा चुके थे। गृहस्थ-सम्बन्धी कर्मों की देख-रेख और सन्तान के लालन-पालन से विमुख होकर चिन्ताहीन, और उत्तरदायित्व-रहित सार्वजनिक जीवन की वाहवाही लूटने के लिये कितना 'त्याग' स्वीकार करना पड़ता है, यह बात वह भली भांति जान गए थे। पर कुछ भी हो, उनके मुंह से इस प्रकार के उत्तर की प्रत्याशा कोई भी नहीं कर सकता था। जो व्यक्ति स्वयं समाज-सुधारकों

में अग्रणी हो, जिसकी पत्नी भी सार्वजनिक क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुकी हो, जिसकी लड़कियां भी नवीन शिक्षा का आलोक प्राप्त करने में लगी हों, उस व्यक्ति के मुंह से वेश्यासुधार और 'स्त्रियों के अधिकार' के विरुद्ध बातें सुनकर किसे आश्चर्य नहीं होगा ! डाक्टर कन्हैयालाल सन्न रह गए । प्रोफ़ेसर साहब का भी यही हाल था । पर सब से अधिक आश्चर्य स्वयं मुझे हो रहा था । मैं अब तक काका की कुर्सी के पिछे खड़ी थी। काका की बातों से कौतूहल बढ़ने के कारण एक कुर्सी पकड़कर उनकी बग़ल में बैठ गई । काका के 'प्रगतिशील' विचारों के सम्बन्ध में जो धारणा इतने दिनों तक मेरे मन में जमी हुई थी वह मूलतः बदल गई, मैंने अनुभव किया कि 'बूर्ज्वा' समाज के विश्वास परिपूर्ण रूप से उनके भीतर बद्धमूल हैं।

१०

डाक्टर कन्हैयालाल किशोरीमोहन की तरह सहज में झेंप जानेवाले आदमी नहीं थे । बोले—"तो आप क्या यह चाहते हैं कि स्त्रियां अनन्तकाल तक अज्ञता के अन्धकार में डूबी रहें और अन्धभाव से पुरुषों की ग़ुलामी करती रहें ?"

काका ने चिढ़कर कहा—"पुरुषों की ग़ुलामी ! आप क्या यह समझते हैं कि हमारी अशिक्षिता स्त्रियां नासमझी के कारण पुरुषों की सेवा में लगी हैं ? देश-भर में यही भारी भ्रम फैला हुआ है । हम लोगों को यह ख़बर नहीं है कि जानबूझकर, अपने हृदय के अपरिमित स्नेह की अविरल धारा को बद्ध न रख सकने के कारण, हमारी स्त्रियां अपनी इच्छा से अपने को बन्धन में जकड़कर गीता के निष्काम धर्म का पालन कर रही हैं । पुरुषों का ख़याल है कि स्त्रियां उनके दबाव से दबी हुई हैं । यह बात किसी के ध्यान में नहीं आ रही है कि अगर स्त्रियां इस बन्धन से मुक्त होना चाहें तो संसार की कोई भी शक्ति उन्हें रोक नहीं सकती । पुरुष की तुच्छ शक्ति का स्त्रियां सदा मन-ही-मन परिहास किया करती हैं !" स्पष्ट ही नारी की 'स्वर्गिकता' के सम्बन्ध में 'बूर्ज्वा' समाज के विश्वास की प्रतिध्वनि उनकी इस बात से

गूंज रही थी, नारी के 'एब्सट्रैक्ट' स्वरूप के प्रति असीम श्रद्धा और वास्तविक जगत में उसकी यथार्थ उन्नति के प्रति विरोधी भाव, यह इस समाज की विचार-धारा की विशेषता है ।

अपनी तीव्रता से डाक्टर साहब की वाक्-शक्ति को प्रतिहत करके काका कुछ देर तक आंखें फाड़-फाड़कर शून्य दृष्टि से ताकते रहे। हम लोग सब भयभीत होकर स्तब्ध भाव से बैठे रहे। कुछ देर तक चुप रहकर काका फिर बोले—"स्त्री-शिक्षा ! स्त्री-शिक्षा ! चारों ओर से आजकल यही आवाज़ सुनाई देती है । पर स्त्री-शिक्षा क्या केवल युनिवर्सिटी और राजनीतिक क्षेत्र में ही फलित होती है ? स्त्रियों की आत्माओं में स्थित उन्नत वृत्तियों को सुसंस्कृत करने से ही उन्हें उपयुक्त शिक्षा प्राप्त हो सकती है । जिस नयी राष्ट्रीय शिक्षा की कल्पना मैं कर रहा हूं उसमें 'स्त्रियों के अधिकार' का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । स्त्रियों के अधिकार भगवान ने जन्म से ही उन्हें दिए हैं । उन्हें कोई छीन नहीं सकता। वोट के अधिकारी होने, कौन्सिलों में प्रवेश करने, 'बार-प्रेक्टिस' करने और उच्च सरकारी पद प्राप्त करने से ही कुछ उनकी उन्नति नहीं हो जायगी ।"

कन्हैयालाल इसके उत्तर में कुछ बोलना चाहते थे । काका ने उन्हें रोककर शांत स्वर में कहा—"मारिए गोली ! इन सब बातों में क्या रक्खा है ! इस प्रकार के विवादों का अंत नहीं होता । इधर कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता । पेट में दर्द हुआ करता है, सिर भारी रहता है, तमाम बदन में सुस्ती छाई रहती है, हर वक्त लेटे रहने की इच्छा होती है, किसी काम को जी नहीं करता । आप क्या इसका कोई कारण बतला सकते हैं ?"

विषय के परिवर्तन से कन्हैयालाल ने अपने को अपमानित हुआ समझा, यह बात मैं स्पष्ट देख रही थी । फिर भी गुस्से को पीकर यथासंभव शांत होकर बोले—"कोई ख़ास बीमारी आपको नहीं है । 'जेनेरल डेबीलीटी'

के चिन्ह दिखलाई देते हैं। मैं एक बार आपको अच्छी तरह से 'साउंड' करूँगा। कब्जियत के लिये आप रात को 'लिक्विड पेरेफ़िन' पिया कीजिए । कमजोरी के लिये आपको किसी टॉनिक का सेवन करना होगा। पर सब टॉनिकों से बेहतर आजकल एक नई दवा का आविष्कार हुआ है । मनुष्य-शरीर के क्षीण होने के संबंध में 'लेटेस्ट थिओरी' यह है कि जिन-जिन उपादानों से मानव-शरीर गठित होता है उनमें 'केल्सि-यम' का भाग विशेष रूप से पाया जाता है ।' हड्डियां और पसलियां 'केल्सियम' से ही बनी हैं। इस केल्सियम के नष्ट होने से 'लॉस आफ़ इनर्जी' के चिन्ह दिखलाई देते हैं । अक्सर देखा जाता है कि जिस आदमी के दांत ख़राब होते हैं वह बीमार रहता है । अधिकांश डाक्टरों का यह ख़याल है कि दांत साफ़ न करने से दांत ख़राब होते हैं और उनकी ख़राबी से आदमी बीमार हो जाता है । इसलिये दांतों की सफ़ाई पर आज कल बहुत जोर दिया जाता है । पर मुझे यह बात बिलकुल ग़लत जान पड़ती है । असल में दांत साफ़ न करने से दांत ख़राब नहीं होते बल्कि केल्सियम का सार-भाग नष्ट होने से ही वे ख़राब होते हैं। मैंने बहुत से ऐसे लोगों को देखा है जो रोज़-बरोज़ दांत साफ़ करते हैं, टुथ-पेस्ट, टुथ पाउडर, नमक और तेल का लेप काम में लाते हैं, कभी पान नहीं चबाते, पर फिर भी उनके दांत ख़राब रहते हैं । दांतों की ख़राबी से आदमी बीमार नहीं होता, पर दांतों की ख़राबी बीमारी का एक लक्षण है। इस कारण 'केल्सियम' से प्रस्तुत किया गया एक नया रसायन आज-कल शरीर की दुर्बलता के लिये दिया जाने लगा है । इसका नाम है 'ट्राइकेलसीन'। मैं आपको इसी के सेवन का उपदेश दूंगा। भारतवर्ष में अभी इस दवा का विशेष प्रचार नहीं हुआ है, पर मैं इसकी परीक्षा कर चुका हूं ।"

काका ने उल्लसित होकर कहा—"इस थिओरी की युक्ति मुझे जंचती है। यह बात बिलकुल नयी और दिलचस्प है । 'रिकाल्सिफ़िकेशन' का जिक्र इधर मैंने राजू के मुंह से भी सुना था, पर उसे इस संबंध में अनाड़ी

समझकर मैंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। मैं अवश्य 'ट्राइकेलसीन' का सेवन करूंगा।"

उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से मेरी ओर ताककर डाक्टर साहब बोले—"अवश्य कीजिएगा। और केवल आप ही नहीं, (मेरी ओर इशारा करके) आपको भी इसका सेवन कराइए। इनका चेहरा बहुत ज़र्द दिखलाई देता है। इनका टेंपरेचर नॉर्मल रहता है या नहीं, यह बात मालूम करनी होगी। एक हफ़्ते तक दिन में तीन बार इनका टेंपरेचर जब लिया जाय तब मालूम पड़े। पहले से ही सावधान रहना ठीक होता है। इस उम्र में स्त्रियों को अक्सर 'टी. बी.' हो जाया करता है।"

चौंककर काका ने कहा—"ऐं! 'टी. बी.'! यह आप क्या कहते हैं!"

डाक्टर साहब मुस्कुराए। बोले—"अभी घबराने की कोई बात नहीं है। इन्हें शायद 'टी. बी.' होगा भी नहीं। पर सावधान रहने में कोई हानि नहीं है।"

"आपका क्या यह ख़याल है कि इसमें 'टी. बी.' की 'टेंडेंसी' पाई जाती है!"

" 'टेंडेंसी' तो अवश्य है। पर 'ग्लेंड' अभी उभरे या नहीं, यह बिना देखे नहीं कहा जा सकता।"

मैं साफ़ देख रही थी कि काका का चेहरा स्याह होता जाता था। इस पापिनी को वह प्राणों से भी अधिक चाहते थे। अनिश्चित आशंका से वह घबरा उठे। पर मेरा हृदय आनंद की पुलकित धारा में हिलोरें ले रहा था। डाक्टर साहब नाना कर्मों और नाना चिंताओं में व्यस्त रहने पर भी मेरे प्रति उदासीन नहीं हैं, इस विचार से मैं फूली नहीं समाती थी। मुझे 'टी. बी.' हो गया है या लकवा मार गया है, इस बात की मुझे तनिक भी चिंता नहीं थी।

इस समय तक प्रोफ़ेसर साहब की घिग्घी बंधी हुई थी। अकस्मात्



वह बोले—'पर साहब, देखेगा कौन ? इस कठिन रोग की जांच के संबंध में लेडी डाक्टर का विश्वास नहीं किया जा सकता। डाक्टर कन्हैया-लाल इस संबंध में 'स्पेशलिस्ट' हैं, संदेह नहीं। पर मर्दों का स्त्रियों को साउंड करना भद्दा जान पड़ता है और समाज की आंखों में खटकता है। मैं तो कोई हानि नहीं देखता, पर—"

काका ने एक बार मेरी ओर ताका और इस बात का बिना कोई उत्तर दिए चुप हो रहे।

११

मेरी रग-रग में नशा समा गया था। डाक्टर साहब जब अपने मित्र के साथ वापस चले गए तो मैं अलसाती, झूमती और बल खाती हुई अपने कमरे में जाकर पलंग पर लेट गई। आज न जाने कितने दिनों के बाद मेरे हृदय में चैतन्य और मूर्च्छा की पारस्परिक प्रीति और आंखमिचौनी का खेल चलने लगा था ! डाक्टर साहब का वह बुद्धि से प्रदीप्त, सौंदर्य से उज्ज्वल, तेज-संपन्न मुखमंडल अपनी मोहनी स्मृति से बार-बार मुझे जीवित और मृत कर रहा था। कुसुम-कोमल, रेशम-सज्जित, एसेंस-सुवासित, विहग-पक्षों से निर्मित शय्या की सुकुमार कोमलता में मैं मक्खन की तरह मिलकर पिघली जाती थी। दूसरे कमरे से पियानो की उत्सव-मय ध्वनि कर्ण-कुहरों से अंतस्तल में प्रवेश करके लंदन और पैरिस के उल्लसित जीवन की चंचलता से हृदय को तरंगित कर रही थी। राजू शायद पास में कोई काम न होने से बिना किसी उद्देश्य के निर्विकार भाव से एक विलायती रागिनी बजा रहा था। निर्विकार भाव से इसलिये कहती हूं कि उसकी प्रकृति का व्यक्ति विलायती संगीत के उल्लास-विह्वल रस से कभी उत्तेजित नहीं हो सकता। विजन विश्व के विभीषिकामय विषाद से ही उसे प्रेरणा मिला करती थी। पर मादमाजेल पावलोवना के शिष्यत्व में हम दोनों ने विलायती संगीत की शिक्षा भी पाई थी और रज्जन इस विद्या में भी मुझसे बहुत आगे बढ़

गया था। पर उसने मुझसे कहा था कि पाश्चात्य संगीत से उसकी आत्मा तृप्त नहीं होती।

और मैं? मैं रह-रहकर इस आनंदमय संगीत की तरंगों से कंपित होती जाती थी। कॉलेज की लड़कियों के गांभीर्य-हीन हास-विलास से उकताकर, घर के विषादमय और वैचित्र्यहीन जीवन से घबराकर मैं इस अनंत सृष्टि में अपने को अकेली, असहाय, निःसंगिनी और उपेक्षिता समझ रही थी। आज का वह संगीत मुझसे कहने लगा—"इस विपुल जीवन में तुम्हारी भी सार्थकता है—तुम भी एक दिन संसार-भर के मुग्ध पुजारियों की पूजा पाकर नारी का सौन्दर्य-विभासित यौवनोन्मत्त जीवन सार्थक करोगी। एक दिन आवेगा जब समस्त संसार का आनन्दमय उत्सव केवल तुम्हारे ही चरणों में हृदयांजलि देने के लिये मनाया जायगा।"

कहां गई 'टी. बी.' की चिन्ता, कहां गया 'केल्सियम' पर डाक्टर साहब का मंतव्य! अनंत जीवन और अनंत यौवन के भाव से मेरी नाड़ियां स्फुरित होने लगीं। मैं जाग्रतावस्था में ही स्वप्न देखने लगी। मैं अनुभव करने लगी कि डाक्टर साहब मुझे लेकर देश-विदेश भ्रमण करने निकले हैं। असंख्य पुरुषों को रूप-मुग्ध करके मैं उनकी बातों से, आंखों से, इंगितों से उनकी प्रशंसा लूट रही हूं, पर प्यार सिर्फ़ डाक्टर साहब को ही कर रही हूं। डाक्टर साहब मेरे ही लिये डाक्टरी कर रहे हैं, मेरी ही चिन्ता में दिन बिता रहे हैं, मेरी ही रक्षा का व्रत उन्होंने लिया है। मुझे संसार में किसी का डर नहीं है, क्योंकि मैं एक तेजस्वी पुरुष की छत्र-छाया में महारानी की तरह आसीन हूं।

यह जाग्रत स्वप्न देखते-देखते जब मैं मोहाच्छन्न हो गई तो अवसाद और क्लान्ति से शक्तिहीन होकर यह कल्पना करने लगी कि यदि सचमुच मुझे कोई रोग हो जाता और डाक्टर कन्हैयालाल मेरा इलाज करते तो कैसा अच्छा होता!

फिर सोचने लगी—"अच्छा, सचमुच क्या मेरा रूप पुरुषों को मोहित

करने के योग्य हैं ? क्या कन्हैयालाल सचमुच मुझे चाहते हैं ? क्या मेरा सुस्त चेहरा देखकर सचमुच उन्हें दुःख हुआ था और उनके कलेजे में चोट पहुंची थी ?"

इसके बाद फिर मेरा मन उनका चित्र अंकित करके उनकी रूप-सुधा, उनकी सरस आंखों के मद-विह्वल भाव की मधुरता पान करने लगा। इसके साथ ही प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन की मूर्ति भी मेरे स्मृति-पटल में उदित हो रही थी। मैंने सोचा—"दोनों में से अधिक रूपवान् कौन है ? कन्हैयालाल ही मुझे जंचते हैं। किशोरीमोहन भी देखने में सुंदर हैं, इसमें संदेह नहीं। पर डाक्टर कन्हैयालाल के मुख का-सा तेज उनमें कहां पाया जाता है ! किशोरीमोहन मेरे रूप के भक्त हैं—ऐसे भक्तों की मुझे आवश्यकता है। पर डाक्टर साहब को ही मैं अपना हृदय अर्पित करूंगी।"

भगवान की कृपा से पुरुष अपनी पूरी शक्ति से परिचित नहीं है। स्त्री-हृदय को वह कैसे भयंकर तूफ़ान के ताड़न से आंदोलित कर सकता है, इस बात से वह अनभिज्ञ है। अच्छा ही है। नहीं तो संसार-भर में आज स्त्री-जाति पर जैसा विकट अत्याचार हो रहा है उसकी मात्रा दूनी बढ़ जाती। पुरुष को इस बात पर विश्वास नहीं है कि नारी के हृदय के ऊपर उसकी शक्ति कोई काम कर सकती है। इस कारण अपने को नारी-हृदय का अनधिकारी समझकर वह उसकी पार्थिव सत्ता के ऊपर अपना संपूर्ण बल आरोपित करता है। हाय मूढ़ ! यदि नारी का हृदय तुम्हारे पुरुषत्व की शक्ति से चकनाचूर न हुआ होता, तो विश्व की प्रबलतम शक्ति को काम में लाने पर भी तुम स्त्री-जाति को दासत्व की शृंखला में न बांध सकते। अपने हृदय की विवशता के कारण वह स्वयं लाचार है। अन्यथा उसकी प्रलयंकरी काली-मूर्त्ति की विकरालता और रण-चंडी के समान उन्मत्त भीषणता से सारी सृष्टि का ही लोप कभी हो गया होता।

लज्जा

गया

आ

१२

पर यह सब होने पर भी कौन मूर्ख इस बात का प्रचार कर गया है कि स्त्री जाति वीर पुरुष को भजती है ? पुरुष की मनोहरता से स्त्री मंत्र-विह्वल-सी रहती है । उसका देव-विनिंदक, मदन-मोहन रूप देखकर और उसकी मीठी-मीठी चाटुता-पूर्ण तथा आकर्षक बातें सुनकर वह मोहाच्छन्न हो जाती है, और यह बात सोचने का अवकाश ही उसे नहीं मिलता कि उसका मनोवांछित पुरुष वीर है या नपुंसक । जिस समय ग्रीस देश में वीरता की सच्ची पूजा होती थी उस समय भी विश्व-विमोहिनी हेलेन ने अपने ऊपर मुग्ध समस्त वीरों की अवज्ञा करके, नपुंसक पैरिस के रूप पर मुग्ध होकर अपने पति को छोड़कर ग्रीक-जाति का विनाश घटित किया था। किंग लियर की पितृ-द्वेषिणी लड़कियों ने जिन व्यक्तियों को अपना हृदय समर्पित किया था उनकी नीचता से सभी परिचित हैं। नेपोलियन ने जब स्पेन को अपने अधिकार में करने की चेष्टा की थी तो वहां की रानी उस समय सारा राज्य एक अत्यंत तुच्छ, छैले-छबीले, बांके और रसिया 'सिपाही' को लुटाने में लगी थी । अपने इस प्रेमिक को सेना से वरी करके उसने अपने राज-काज में रख लिया था । फ्रांस के 'लुई' वंश की रानियों की कहानी सभी को विदित है । और तो क्या, हमारे देश की तापसी शकुंतला दुष्यंत के वीरत्व पर मुग्ध न होकर उनका मोहक रूप देखकर ही रीझ गई थी। सुभद्रा के संबंध में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि "उसे बलपूर्वक हरण कर लो, क्योंकि स्त्रियों की रुचि के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। स्वयंवर में वह न जाने किस अयोग्य पुरुष को वरण कर बैठे !"

असल बात यह है कि रूपवान पुरुष को देखकर साधारण नारी उसके प्रति कभी उदासीन नहीं रह सकती, फिर चाहे वह लंपट ही क्यों न हो। मैं मानती हूं कि उदासीन रहना अपने वश की बात नहीं है। पर अपनी इस दुर्बलता के विरुद्ध हठ करने के लिये स्त्री के हृदय में इच्छा का होना परम आवश्यक है। इस आवश्यकता के लिये कारण है ।

संसार-भर में जितने भी महत्वपूर्ण धार्मिक आंदोलनों से मानव-जाति

जागरित हुई है उन सब के मूल में नारी के विरुद्ध पुरुष का विद्रोह है। चिर-काल से पुरुष नारी की भावना को हृदय से उखाड़कर महत् तत्त्व में लीन होने की चेष्टा करता आया है। नारी के त्याग से ही उसके धर्म का आरंभ होता है। पर हाय हतभागिनी नारी ! पुरुष की चिंता और पति की भक्ति ही तुम्हारा मूल धर्म है। पति को त्यागने से इस विपुल जगत् में तुम्हारे लिए धर्माधर्म कुछ भी नहीं रह जाता। केवल शून्य ही शेष रहता है। पुरुष के विना तुम्हारी सत्ता ही नहीं है। पुरुष तुम्हारे फंदे से बच कर निकल भागने की चेष्टा में है, पर तुम नाना चेष्टाओं से उसे रिझाकर अपने प्रेमां-चल से जकड़ने में लगी हो। इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि तुम्हें अपने अबलापन पर गर्व करने की शिक्षा दी गई है, और इस कारण तुम्हारा हृदय भी दुर्बल हो गया है। जब तक नारी-जाति अपने करालिनी कालिका के स्वरूप से परिचित नहीं होगी तब तक उसका शरीर, उसका हृदय और उसकी आत्मा नीचता, दासत्व और पाप-पंक से पतित होती जायगी।

हाय ! आज नारी-जाति के प्रति मेरे हृदय में क्यों इतना भयंकर आक्रोश वर्तमान है ! न मालूम क्यों, मेरे हृदय में यह संस्कार बद्धमूल हो गया है कि स्त्री के सतीत्व की कल्पना ही बिलकुल मिथ्या है। मेरी बुद्धि जानती है कि इस प्रकार की कल्पना अत्यन्त नीचतापूर्ण और अस्वाभाविक है। पर अपनी पतित आत्मा के विकृत और विरोधी संस्कार के लिये मैं क्या कर सकती हूं ! पाठिकाएँ मेरे अंतस्तल की क्रोधाग्नि और प्रतिहिंसा के स्वरूप से परिचित होकर अवश्य ही इस हतभागिनी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेंगी, मुझे यह पूरी आशा है।

हे मेरी सती-साध्वी माताओ और बहनो ! अपने स्वर्गीय शांति-रस की स्निग्धता बरसाकर इस पापिनी की ज्वाला को शांत करो ! अपने हृदय के सहज स्नेह से आशीर्वाद देकर इस हतभागिनी को क्षमा करो। घोर पाप और असहनीय दुःख से पीड़ित होने के कारण मेरा हृदय आज गहन

संशय और अविश्वास के तिमिर से आच्छन्न है। अपनी आत्मा के उज्ज्वल, निष्कलुष, शुभ्र प्रकाश से मेरा अंतःकरण प्रभासित कर दो।

पाठक उकताकर कहेंगे कि इस कहानी में कैफ़ियत अधिक है और तथ्य कम। कैफ़ियत के बिना मेरी कहानी का कोई महत्व ही नहीं रह जाता, यह बात मैं लोगों को कैसे समझाऊं ! कैफ़ियत ही मेरी कहानी है और कहानी कैफ़ियत।

१३

एक दिन काका ने किसी कारण से अपने मित्रों को सहभोज का निमंत्रण दिया। सबके पास निमंत्रण-पत्र भेजे गए, पर पूर्वोल्लिखित दो मित्रों को वह भूल गए। बहुत संभव है, जान-बूझकर उनके पास उन्होंने न्योता नहीं भेजा। पर मैं न रह सकी। मैंने काका को याद दिलाई। कहा—"डाक्टर कन्हैयालाल और प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन के लिए न्योता नहीं भेजा गया। उन लोगों को तुम क्यों भूल जाते हो ?" मेरे भीतर का क्रोध बहुत दबाने पर भी शायद बाहर को कुछ फूट निकला था। काका ने तीव्र बुद्धिमत्ता से पूर्ण अपनी दो उज्ज्वल आंखों से स्नेह की स्निग्ध धारा बरसाकर मेरी ओर ताका। बोले—"ओह ! भूल हो गई है। तुमने ख़ूब याद दिलाई। अभी भेजे देता हूं।" मेरे भावी सर्वनाश की आशंका करते हुए भी वह मेरा अनुरोध न टाल सके।

भोज के दिन नियत समय पर एक–एक दो–दो कर के मित्रगण पधारने लगे। मैं बड़ी उत्सुकता से डाक्टर साहब और प्रोफ़ेसर साहब की बाट जोह रही थी। अंत को अपना सजीला और गठीला बदन, तमतमाता हुआ चेहरा, चमकती हुई आंखें और रौबदार मूंछें लेकर डाक्टर साहब किशोरीमोहन के साथ आ उपस्थित हुए। युगल मित्रों की यह जोड़ी अविच्छेद्य थी। जिस प्रकार नैयायिकों ने यह स्वयंसिद्धि प्रचारित की है कि धुंए को देखते ही आग के अस्तित्व की कल्पना

कर लेनी चाहिए, उसी प्रकार इन दो मित्रों में से एक को देखते ही यह कहा जा सकता था कि दूसरे महाशय भी अवश्य ही इनके साथ होंगे। आज प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन के मुख पर भी विशेष तेज झलक रहा था। दोनों मित्र अश्विनीकुमारों की तरह अपनी प्रभा और नवीनता से स्वयं दीप्त होकर सारी सभा को उज्ज्वल कर रहे थे। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि संसार में जितने भी उत्सव नित्यप्रति मनाए जा रहे हैं वे सब केवल इन्हीं दो मित्रों के शुभागमन के लिये।

सारी सभा की आंखें इसी नवीन जोड़ी की ओर लगी हुई थीं। दोनों के मुखमंडल के भावों में, पहनावे में, चाल की गति में और बोलने में एक ऐसी अद्भुत मौलिकता थी जिसकी उपेक्षा किसी तरह नहीं की जा सकती थी। महिलाओं की मुग्धता के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, परन्तु पुरुष भी उनकी विशेषता से विमूढ़ हो रहे थे।

दोनों को मेरे पास बिठाकर काका ने व्यंग-भरी मुसकान के साथ कहा—"स्मृति-शक्ति की दुर्बलता के कारण मैं तो आप लोगों को न्योता देना भूल ही गया था। पर लज्जा हमारी बड़ी समझदार लड़की है। उसी के याद दिलाने पर मैंने आप लोगों को बुलाया है, इसलिये उसी के साथ आप लोगों को बैठना होगा।" यह कहकर उसी चिर-परिचित व्यंग की मुस्कराहट से मेरी ओर ताककर वह चले गए और अन्यान्य मित्रों का अभिवादन करने लगे। लाज और संकोच की वेदना से मेरे सारे शरीर में कांटे चुभने की सुरसुराहट होने लगी। पर वे दोनों विशेष रूप से उल्लसित हो उठे।

प्रथमय परिचय की लज्जा कैसी भयंकर होती है, पाठिकाओं को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। मेरा मुंह शायद बहुत लाल हो आया था और मैं पसीने से तर हो गई थी। डाक्टर कन्हैयालाल अपने सुदृढ़, सुंदर, पौरुष कण्ठ से बोले—"आपका नाम लज्जा रखकर आपके पिता जी ने अपनी सुबुद्धि का ही परिचय दिया है। वैसे तो स्त्री-जाति लज्जा के

लिये प्रसिद्ध ही है, पर सुशिक्षिता महिलाएं भी इतनी लज्जावती हो सकती हैं, इसकी मुझे ख़बर नहीं थी।"

डाक्टर साहब आज प्रथम बार मेरे साथ बोले थे। अव्यक्त पुलक के आनन्द से मेरे रोएं खड़े हो गए। संकोच को यथाशक्ति दबाने की चेष्टा करके मधुर लाज की विलासितापूर्ण हँसी हँसकर मैं बोली—"तो क्या आप लज्जा को एक दुर्गुण समझते हैं ?"

यहां पर प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन बोल उठे—"अगर नहीं समझते तो समझना चाहिए। मैं किसी तरह लज्जा को गुण नहीं बतला सकता। हमारे देश की स्त्रियां इतने नीचे इसीलिये गिरी हैं कि उनमें बात-बात में जड़ता और संकोच पाया जाता है। इस घृणित संकोच के कारण ही वे जनता में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित करने में असमर्थ हैं। इस संकोच के कारण ही वे पर्दे में सड़कर पुरुषों की ग़ुलाम बनी हुई हैं।"

डाक्टर कन्हैयालाल ने कहा—"माफ़ कीजिए, प्रोफ़ेसर साहब! मैं आपकी बात से सहमत नहीं हूं। लज्जा ही स्त्री-जाति का एकमात्र ऐसा गुण है जिसने पुरुषों को बांध रक्खा है। लज्जा बुरी नहीं है, पर आवश्यकता से अधिक मात्रा में होने से ही इससे नुक़सान पहुंचाता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' वाली चाणक्य-नीति मुझे बार-बार याद आती है।"

प्रथम लज्जा का बांध टूटने से मैंने निर्लज्ज होकर मधुर मुस्कराहट के साथ नयन-बाणों से दोनों मित्रों को वेधते हुए डाक्टर साहब से कहा—"कितनी लज्जा आवश्यक होती है, और कितनी आवश्यकता से अधिक, इस बात का ठीक-ठीक हिसाब रखकर कैसे चला जा सकता है ? लज्जा को कम करना या बढ़ाना क्या अपने वश की बात है ? आप तो डाक्टर हैं, आप तो जानते हैं कि स्नायु के विशेष विकार से ही मनुष्य को लज्जा आ घेरती है। जिस व्यक्ति का स्नायु-चक्र अधिक सुकुमार होता है, वह लाख लज्जा को दबाने की चेष्टा करने पर भी उसकी ललाई से रंग जाता है। स्त्रियों का स्नायु-चक्र सबसे अधिक सुकुमार होता है, इसलिए वे किसी

प्रकार भी लज्जा को त्याग नहीं सकतीं। हां, अगर आप स्नायु-चक्र को अधिक पुष्ट और दृढ़ बनाने की कोई दवा 'प्रेसक्राइब' कर सकते हैं तो दूसरी बात है।"

मेरी अंतिम बात से प्रोफ़ेसर साहब ठठाकर हँस पड़े और डाक्टर कन्हैयालाल शायद आनंद की उत्तेजना के कारण तमतमा उठे।

प्रोफ़ेसर साहब बोले—"ख़ूब ! यह आपने ख़ूब कहा ! लज्जा जब एक स्नायविक विकार है, तो इसका डाक्टरी इलाज अवश्य होना चाहिए। मुझे पूरा विश्वास है कि डाक्टर साहब इसकी दवा जानते हैं। पर इस मर्ज़ के लिये कोई ऐसी दवा 'प्रेसक्राइब' नहीं की जा सकती जो चखने लायक़ हो। आप को शायद मालूम होगा कि आजकल विलायत में हिप्नोटिज़म और मेस्मेरिज़्म द्वारा भी कई रोगों का इलाज किया जा रहा है। डाक्टर साहब इन विद्याओं में भी पारंगत हैं। आप बेमालूम कई रोगों को दूर कर देते हैं। बहुत संभव है आप के ऊपर भी इन्होंने हिप्नोटिज़्म का प्रयोग कर लिया हो, नहीं किया होगा तो शीघ्र ही करेंगे।"

प्रोफ़ेसर साहब शायद समझ गए थे कि डाक्टर साहब की बातों के जादू से मेरी लज्जा तिरोहित हो गई है, इसीलिए व्यंग की यह वर्षा कर रहे थे। पर इसमें संदेह नहीं कि डाक्टर साहब की आंखों में और उनकी बातों में एक ऐसी विशेषता थी, जो मनुष्य को बेबस मोह लेती थी। इसलिए नहीं कि उन्होंने हिप्नोटिज़्म की तुच्छ विद्या का अभ्यास किया हो। उनका यह जादू उनकी प्रकृति के साथ जड़ित था।

१४

दो पुरुष-प्रशंसकों की मुग्ध दृष्टि से पूजित होकर मैं अपने को सारे संसार की महारानी समझ रही थी। कोई दैन्य, कोई हीनता और कोई तुच्छता मैंने अपने भीतर नहीं पाई। मैं अच्छी तरह समझ रही थी कि हमारे बीच में जो बातें इस समय हो रही हैं, वे अत्यन्त तुच्छ और

नाशवान् हैं । पर हमारे बीच से होकर चुंबक-शक्ति की जो अदृश्य धाराएँ तरंगित हो रही हैं वे चिरस्थायी और अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।

डाक्टर साहब बोले—"हिप्नोटिज़्म, मेस्मेरिज़्म, मेग्नेटिज़्म, ये सब विद्याएं कोई विद्याएं नहीं हैं । इसमें संदेह नहीं कि विलायत में 'मेडिकल सायंस' की तरह ये विद्याएँ भी पढ़ाई और प्रयोगों द्वारा सिखाई जाती हैं; पर मनुष्य का यह ज्ञानाभिमान कैसा तुच्छ है ! केवल पुस्तक और 'लेबोरेटरी' के भीतर बन्द ज्ञान ही उसके लिए सब कुछ है । आत्मानुभव को वह कोई महत्व ही नहीं देता । मनुष्य की शक्ति को जड़ बनाकर उसे बेबस अपने इशारों पर नचाना, प्रकृति को अपने वश में कर लेना, क्या एक साधारण खेल है कि जो पुस्तकगत सिद्धान्तों को रटने से ही अभ्यस्त हो सके ? हमारे देहाती भाई काशी, मुरादाबाद या मथुरा के सस्ते प्रेसों से छपी हुई इंद्रजाल और तंत्र-मंत्र की पुस्तकें पढ़कर 'हिप्नोटिस्ट' बनना चाहते हैं । वर्त्तमान 'हिप्नोटिक सायंस' की विलायती पुस्तकों की दौड़ इंद्रजाल की उन पुस्तकों से अधिक है, मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता ।"

प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन कुछ खीझकर बोले—"तो क्या आप 'हिप्नोटिज़्म' को केवल एक शब्द-जाल समझते हैं ?"

"हरगिज़ नहीं । हिप्नोटिज़्म शब्द जब कोष में है, तब उसका कुछ-न-कुछ अर्थ अवश्य होना चाहिए । मैं 'हिप्नोटिज़्म' को कोई बाहरी विद्या नहीं समझता जो पुस्तकों के पढ़ने से सीखी जा सके । मनुष्य की भीतरी वृत्तियों के विशेष विकास से ही उसका सम्बन्ध है । महात्मा बुद्ध ने समस्त मानव-जाति को किस विद्या द्वारा मोहित किया था ? उन्होंने मद्रास प्रान्त के अडयार पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित वशीकरण-योग की पुस्तकों का अध्ययन किया था या ट्रिप्लिकेन के पुस्तक-प्रकाशकों का मेस्मेरिज़्म सीखा था ?"

मैं स्पष्ट देख रही थी कि डाक्टर कन्हैयालाल आज प्रारम्भ से ही प्रोफ़ेसर साहब को परास्त करने की चेष्टा में थे और प्रोफ़ेसर साहब भी

बीच-बीच में अपनी व्यंगोक्तियों से उन्हें उत्तेजित करने में लगे थे । इसका कारण क्या था ? यह क्या प्रतियोगिता-जनित विद्वेष था ? संभव है । कुछ भी हो, इससे मेरा आत्माभिमान अधिकाधिक बढ़ता जाता था ।

प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन बोले—"आपके विचार में क्या महात्मा बुद्ध के जमाने में 'हिप्नोटिज़्म' का प्रचार नहीं था ? यह आप कैसे कह सकते हैं ? 'हिप्नोटिज़्म' नहीं तो हठयोग, राजयोग आदि नाना योग तो उस समय वर्त्तमान थे । ये हिप्नोटिज़्म के ही अन्य रूप हैं । कौन कह सकता है कि बुद्ध ने इन योगों का अनुशीलन नहीं किया था ?"

प्रोफ़ेसर साहब की यह उक्ति शायद अत्यन्त हास्यजनक थी । इसलिए डाक्टर साहब ठठाकर हँस पड़े । डाक्टर साहब की विजय अब निर्विवाद थी । उनकी विकट हँसी से किशोरीमोहन के चेहरे की रंगत उड़ गई । वह परास्त होकर कभी कन्हैयालाल का और कभी मेरा मुंह ताकते रह गए ।

डाक्टर कन्हैयालाल ने प्रोफ़ेसर साहब के इस हास्यापद तर्क का उत्तर देना ही उचित न समझा । वह अपनी ही धुन में कहते चले गए—"रमणी अपने रूप की मोहनी से सारे जगत् को अपने इशारों पर नचा रही है । इस रूप के 'मेग्नेटिज़्म' से पागल होकर पुरुष-समाज इस बात का ख़याल नहीं कर रहा है कि इस प्रबल आकर्षण के मूल में स्त्री का हृदय है, जो चुंबक-शक्ति से पूर्ण लोहे के चट्टान से भी कठिन है । इस भीषण चट्टान की ओर बेबस आकर्षित होकर उससे टकराकर पुरुष-हृदय चकनाचूर हो जाने की इच्छा रखता है । स्त्री के रूप और हृदय के इस आकर्षण का कारण क्या आप यह बतला सकते हैं कि उसने भी किसी योग-शास्त्र का अध्ययन या अभ्यास किया है ?"

शैतान की तरह अव्यक्त हँसी हँसकर डाक्टर कन्हैयालाल ने अपनी बात समाप्त की ।

प्रोफ़ेसर साहब को निरुत्तर देखकर मैं अपने शरीर और मुख के सुन्दर गठन का विलास पूर्णमात्रा में व्यक्त करके डाक्टर कन्हैयालाल से बोली—

"तो क्या आपका हृदय भी स्त्री-हृदय के चुंबक-चट्टान से टकराकर चकनाचूर होने को है ?"

यह प्रश्न करते ही निरतिशय लज्जा के कारण मेरा मुंह खून से रंग गया और आंखें नीचे की तरफ़ झुक गईं । प्रोफ़ेसर साहब इतने ज़ोर से हँस पड़े कि सारी सभा की उत्सुक आंखें हमारी ओर केन्द्रित हो गईं । अपनी निर्लज्ज मूर्खता पर मैं बेतरह पछताने लगी । मेरा दिल ज़ोरों से धड़कने लगा और हाथ-पांव बेबस कांपने लगे । किसी पुरुष से ऐसा प्रश्न कभी कर सकूंगी, यह बात मैंने स्वप्न में भी नहीं सोची थी ।

पर डाक्टर कन्हैयालाल ने स्थिर होकर मंद-मंद मुसकान से और तीखी नज़र से मेरी ओर ताका । उनकी उस तीक्ष्ण दृष्टि की आंच से मेरा हृदय पुलकित होकर पिघलने लगा । उनकी आंखों के विद्युत्-वर्षण से मेरी आंखें चौंधिया गईं और मैं इच्छा होने पर भी एकटक उनकी ओर न ताक सकी । अधखुली आंखों से कभी ऊपर को उनकी ओर ताकती थी और फिर उसी दम नीचे को नज़र फिरा लेती थी । मैं लज्जा से मिट्टी में गड़ी जाती थी, पर फिर भी मन-ही-मन यह अनुभव कर रही थी कि मेरी आंखों की मोहिनी इस समय दूनी बढ़ गई है ।

अपनी दृष्टि की तीक्ष्ण धार से मेरा हृदय चीरकर, उसमें से न मालूम क्या गुप्त रहस्य निकालकर डाक्टर साहब ने स्थिर भाव से पूछा—"आप क्या सचमुच यह बात जानना चाहती हैं ?"

इस समय भी उनकी आंखों के कोनों में शैतान का वही निष्ठुर, अव्यक्त हास भरा था ।

मैंने धीमे, कांपते हुए स्वर में कहा—"यह आपका कैसा अनोखा प्रश्न है !"

डाक्टर साहब बोले—"आपका प्रश्न अनोखा था या मेरा यह प्रश्न अनोखा है ? ख़ैर !—"

फिर वही क्रूर, अव्यक्त, मंद हास ! मैं अफ़ीम के नशे से झूमने लगी ।

१५

भोज समाप्त होते ही मैं वहां से उठ गई और बिना किसी से कुछ कहे-सुने बाहर चली आई । मैं अच्छी तरह समझ रही थी कि मेरा यह आचरण अनुचित और शिष्टाचार के विरुद्ध है; पर एक ऐसी अप्रिय भावना से मेरा हृदय मथित हो रहा था जिससे मैं मुक्ति पाना चाहती थी । प्रेम-संभाषण के प्रथम सूत्रपात से ही मेरे हृदय में प्रेम-जनित तृप्ति उत्पन्न होने लगी थी । अपने को धिक्कारकर, निर-पराध काका को कोसकर मैं जी मसोसकर बाहर आई। बाहर राजू लीला के साथ 'बेडमिंटन' खेल रहा था । भीतर बड़े-बड़े लोग आए हुए थे, शहर-भर की प्रसिद्ध महिलाएं उपस्थित थीं, तरह-तरह की दिलचस्प बातें छिड़ रही थीं, नये-नये और एक-से-एक बढ़कर फ़ैशनों की प्रतियोगिता हो रही थी; पर राजू इन सब बातों के प्रति बिलकुल उदासीन था । अर्थ और काम की जलती हुई आग के बीच में वह वैराग्य से स्थिर मूर्त्तिमान धर्म न मालूम किस नक्षत्र-लोक से आकर शांत भाव से विराज रहा था !

लीला के उल्लास की किलकारियों से सारा वायुमंडल गूंज रहा था और राजू बड़े आनन्द से उसके निष्पाप जीवन की प्राकृतिक उमंग का उपभोग कर रहा था । मुझे अपने इन दो भाई-बहन के ऊपर ईर्ष्या होने लगी । मैं एकटक दोनों को ताकती रह गई। धीरे-धीरे मेरी आंखों से अकारण आंसू उमड़ आए । आंखें पोंछकर मैं उन दोनों के पास आकर खड़ी हो गई ।

लीला दौड़ती हुई मेरे पास आई और बड़े स्नेह से मुस्कुराती हुई बोली—"दीदी, पहला 'गेम' मैं हार गई हूं, दूसरे 'गेम' में भी भैया ही अब तक आगे बढ़े हैं । मेरे बदले तुम खेल दो !" मैं अन्य-मनस्क हो रही थी । चित्त चंचल था । पर लीला का स्नेहानुरोध न टाल

सकी । बोली—"अच्छा भैना, मैं खेल दूंगी ।" उसके हाथ से रैकिट लेकर मैं खेलने लगी । राजू इस खेल में बड़ा तेज़ था । इसलिए मैं भी हारती चली गई । मुझे भी हारते देखकर लीला का मुंह फीका पड़ता जाता था । मैं मन में कहने लगी—"हाय, प्यारी बहन ! अभी तुम संसार-चक्र से परिचित नहीं हो । अभी तुमने अपना हृदय नहीं पहचाना है । एक दिन प्रकृति की विकट अग्नि-परीक्षा में तुम्हारा यह हृदय भी जलेगा, तब तुम्हें मालूम होगा कि सारे जीवन को आलस्यजनित आनन्द की क्रीड़ा में बिताने की इच्छा करने वाली स्त्रियों के लिए यह संसार नहीं है । जिन लड़कियों को बचपन से ही इस प्रकार जीवन बिताने की शिक्षा दी जाती है, वे अंतकाल तक जल-जलकर, घुल-घुलकर अपने दिन बिताती हैं । जलने के सिवा उनके कपाल में और कुछ लिखा नहीं होता ।"

पर कर्म ? घोर 'बूज्र्वा' समाज के संस्कारों से पोषित और पूंजीपति-परिवार के सुख-साधनों से लालित मेरे समान स्त्री क्या कर्म कर सकती है ! जब भगवान ने लीला को और मुझे अर्थ और काम से पूर्ण, पार्थिव ऐश्वर्य से संपन्न घर में पैदा किया था, तो ऐसे घर में क्या कर्म हमें करना था ? कौन-सा कर्त्तव्य मैं निभा सकती थी ? निर्धन घरों की स्त्रियों का कर्त्तव्य तो प्रकृति ने जन्म से ही निर्दिष्ट कर दिया है—भाई-बहन और बाल-बच्चों की देख-रेख करना, चूल्हा जलाना, खाना बनाना, कूटना, पीसना, बर्तन मांजना, अतिथि अभ्यागत, माता-पिता, सास-ससुर पति और देवरों की सेवा में लगे रहना, इत्यादि सभी कर्मों के भार से वे दबी रहती हैं, और इसी प्रकार के निःस्वार्थ, निष्काम कर्म में लगे रहने में ही उन्हें स्वर्ग का आनन्द मिलता है, और, संभव है, स्वर्ग का फल भी प्राप्त होता होगा । पर हमें इन सब पुण्य कर्मों में निमग्न रहने का सौभाग्य कैसे प्राप्त हो सकता था ? नौकर-चाकर, दास-दासी, धाई, महराज और महराजिनों से सारा घर भरा था । ज़मीन पर से एक तिनका उठाने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त नहीं होता था । ऐसी हालत में आलस्य-विलास और सुख-स्वप्नों में डूबे रहने के अतिरिक्त और क्या किया जा सकता था ? पर मैं अच्छी तरह से जानती

थी कि इस प्रकार के आलस्यजनित स्वप्नों से मेरा सारा जीवन मिट्टी में मिला जा रहा है, और इस कर्म-भूमि में पैदा होने पर भी मैं विकराल जड़ता का ही ग्रास बनी हुई हूं। कर्म में निमग्न रहने की आन्तरिक इच्छा होने पर भी मैं लाचार थी। यदि मैं विवाहिता होती, तो मैं अपने लिये काम निकाल लेती। पर ऐसा भी नहीं था। पति की सेवा और सन्तान के लालन का कर्म अपने आप में पूर्ण है। उसके होते हुए किसी बाहरी कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। पर मैं इससे भी वंचित थी। मेरी समस्या कैसी विकट थी! एक तरफ़ तो चढ़ती जवानी का जोश मेरी नसों को उत्तेजित करके मुझे प्रचंड कर्म के लिये उकसा रहा था और दूसरी तरफ़ मैं अकर्मण्यता की व्यर्थता से क्षुब्ध हो रही थी।

मैं अच्छी तरह से समझ रही हूं कि लोग मेरी बात पर हँसेंगे। कहेंगे—"जब कर्म करने की उत्कट इच्छा तुम्हारे हृदय में वर्त्तमान थी, तो तुमने देशहित का व्रत क्यों नहीं लिया? ऐसा करने से तुम्हारे लिये कर्म का अभाव न रहता। सभा-समितियों में व्याख्यान देकर, चरखे का प्रचार कर, गांव-गांव में जाकर ग्रामीण स्त्रियों की राजनीतिक चेतना जागरित कर अपना कर्त्तव्य तुम निभातीं। यह कर्म ही सब कर्मों से श्रेष्ठ है और यह तुम्हारी ही प्रकृति की स्त्रियों के योग्य है भी।"

मैं मानती हूं कि यदि मैं इस प्रकार के कर्म को अपनाती तो मेरे भीतर की एक विशेष प्रवृत्ति चरितार्थ हो उठती और मैं अकर्मण्यता की जड़ता से मुक्ति पा जाती। पर न जाने क्यों, सुविधा रहते हुए भी मैं इस प्रकार के जीवन को न अपना सकी। यह संभवतः मेरा दुर्भाग्य था। पर साथ ही आज एक दूसरे ही सत्य की ओर मेरा ध्यान है। स्त्री-हृदय में कर्म की जो उत्कट वासना वर्त्तमान है, वह इस प्रकार के बाह्य कर्मवाद से कभी पूर्ण हो सकेगी मैं ऐसा नहीं समझती! सभा-समितियों में व्याख्यान देकर, उल्लसित जनता की हर्षध्वनि से पुलकित होकर, जयमाला गले में डालकर, राजनीतिक भोज से तृप्त होकर, मोटर में चढ़कर शहर की परिक्रमा करके जुलूस के साथ

उत्सुक भक्तवृन्द को अपने दर्शन देकर देश का और जनता का उपकार करने के बदले संभवतः मैं अपने ही आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती।

अगर ईश्वरानुमोदित कर्म का यथार्थ मर्म इस जगत में कोई समझ पाया है तो वह हमारे कंगाल देश की कर्मक्लिष्ट ग्रामीण स्त्रियां। ऐसी स्त्रियों को केवल राजनीतिक अधिकार के लिये लड़ने की शिक्षा देकर उनका क्या उद्धार हो सकेगा, यह भी मैं नहीं समझ पाई हूं। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें आत्म-बल और आत्म-विश्वास अधिकाधिक मात्रा में उसकाने की आवश्यकता है। पर मुझ जैसी विलास-विदग्ध नारियां उनमें वह बल भरने की योग्यता कहां पावेंगी !

१६

खेलते-खेलते एक 'गेम' भी पूरा न हुआ होगा कि डाक्टर कन्हैयालाल अपनी वही भयंकर मुसकान लेकर 'बेडमिंटन' के कोर्ट के पास आकर खड़े हो गए। इस समय वह अकेले थे, प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन उनके साथ नहीं थे। अभी कुछ ही देर पहले उनका अपमान करके, उनके प्रति उपेक्षा का भाव दिखलाकर और अपनी अद्भुत, चंचल प्रकृति का परिचय देकर मैं अचानक उनके पास से उठकर चली आई थी। पर इस समय फिर उन्हें देख-कर मैं अपने जीवन की चिन्ता भूल गई, कर्म-अकर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य की भावना मेरे हृदय से तिरोहित हो चली ! मैं केवल विमूढ़-सी होकर उन की अनिर्वचनीय रूप-माधुरी अतृप्त हृदय से पान करने लगी। मैं अनुभव करने लगी कि मेरा जीवन अभी व्यर्थ नहीं हुआ है—अभी उसका प्रारम्भ है और पुरुष के स्नेह से पुलकित होकर उसे अभी आनन्द के नाना रंगों में रंगना है। फिर एक बार अनन्त यौवन और अनन्त जीवन की तरंग मेरे भीतर हिलोरें लेने लगी।

डाक्टर साहब आते ही उपदेश बघारने लगे। बोले—"यह क्या ! आपको शायद खबर नहीं कि आपके स्वास्थ्य के लिये इतना 'एग्ज़रशन' भी

बहुत ख़राब है। 'नर्वस डिज़ीज़' में 'कंप्लीट रेस्ट' ही एक ऐसा इलाज है जिसका कुछ असर हो सकता है। आपको 'कांजर्वेशन आफ़ इनर्जी' का मूल्य समझना चाहिए।"

डाक्टर साहब से मेरी बातें आज ही हुई थीं। पर इतने थोड़े समय के आलाप से ही उनकी धृष्टता इतनी अधिक बढ़ी देखकर मुझे आश्चर्य होना चाहिए था। पर कुछ नहीं हुआ। यह शायद इसलिये कि मुझे डाक्टर लोगों के 'प्रिविलेज'—उनके विशेष अधिकार—का ख़याल हो आया। पर मैंने जब शंकित होकर राजू की ओर ताका तो एक पलक में ही उसके मुख का भाव देखकर मैं समझ गई कि डाक्टर कन्हैयालाल के प्रति विद्वेष के भाव से उसका ख़ून खौल रहा है। मैं घबरा गई। डाक्टर साहब को राजू ऐसी बुरी निगाह से देख रहा था जैसे उसके जन्म-जन्मांतर का बैरी अनेक समय के बाद फिर उसके सामने आ खड़ा हुआ हो। मैं सिर से पैर तक कांपने लगी। पर डाक्टर साहब की बात का उत्तर दिए बिना न रह सकी।

मधुर मुसकान के साथ बोली—"सारे संसार के अनुभवी लोग तो यह उपदेश देते हैं कि शरीर को हिलाने-डुलाने और हर वक्त उससे काम लेते रहने से तन्दुरुस्ती बढ़ती है, पर आप यह अनोखी बात सुनाते हैं कि उसे बिलकुल आराम देना चाहिये!"

राजू के मुंह की ओर ताककर डाक्टर साहब की हँसी उनके होंठों में ही विलीन हो गई थी। फिर भी बड़ी मुश्किल से अपने को संभाल कर बनावटी हँसी दिखलाकर उन्होंने कहा—"'लेटेस्ट थिओरी' यही है।"

राजू अचानक खिलखिलाकर हँस पड़ा। वह क्या सोचकर हँसा, कह नहीं सकती। पर उसकी हँसी और भी अधिक भयंकर थी। उसके बाएँ हाथ में 'शटलकॉक' था और दाहिने हाथ में रैकिट। 'शटलकॉक' को ऊपर उछालकर उसने उसपर ऐसे जोर से रैकिट चलाया कि कुछ देर तक वह आकाश में दिखलाई भी न दिया। 'शटलकॉक' कहां गिरा, इस बात की बिलकुल परवा न कर वह सीधा बरामदे की तरफ़ आगे बढ़ा और डाक्टर

साहब के पास आकर खड़ा हो गया। उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य, दृढ़ता और तेज देखकर डाक्टर साहब चकित रह गए। आकस्मिक और अनिच्छित संभ्रम के कारण बेबस कुछ पीछे दबकर खड़े हो गए और उसके मुंह की ओर ताकते रह गए। उन्हें शायद अपने झूठे तेज का बड़ा घमंड था। उनका वह दर्प अपने भाई की सच्ची तेजस्विता के आगे चूर होते देखकर मैं गर्व से पुलकित हो उठी। पर कहीं राजू कोई बेजा बात उनसे न कह बैठे, इस चिन्ता से मेरा कलेजा ज़ोरों से धड़क रहा था। मैं अभी तक 'बैडमिंटन' के कोर्ट में अपने ही स्थान पर खड़ी थी। वहां से हटने की हिम्मत नहीं होती थी।

राजू व्यंगपूर्वक मुस्कराते हुए बोला—"आपकी यह 'लेटेस्ट थिओरी' बड़े मज़े की है, इसमें शक नहीं।"

अपनी सारी-शक्ति एकत्रित करके मैं आगे बढ़ी और दोनों का पारस्परिक परिचय कराते हुए बोली—"डाक्टर साहब, यह मेरा भाई राजू है—राजू, यह डाक्टर कन्हैयालाल हैं।"

पारस्परिक अभिवादन के बाद डाक्टर साहब बोले—"आपकी तारीफ़ आपके पिता जी से बहुत सुना करता था। आज आपके दर्शन पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपका चेहरा और बदन देखने लायक़ है, इसमें शक नहीं।"

डाक्टर साहब लोगों को वश में करना जानते थे। प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन ने भी इस बात की ताईद की थी, और मैं इसकी यथार्थता का अनुभव कर चुकी थी। पर शायद उन्हें ख़बर नहीं थी कि संसार में राजू की प्रकृति के असाधारण व्यक्ति भी होते हैं, जिन पर किसी के व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं पड़ता।

राजू ने उन्हें बनाते हुए कहा—"आप क्या सच कहते हैं? मेरा चेहरा क्या सचमुच देखने योग्य है?"

इतने-से लड़के के आगे अपने को परास्त होते देखकर डाक्टर साहब बौखला-से गए। कठपुतली की तरह बिना कुछ सोचे-समझे बोले—"जी हां!"

राजू ठठाकर हँस पड़ा।

१७

मुझे राजू पर बड़ा क्रोध आ रहा था। डाक्टर साहब की वह बुरी हालत मुझसे देखी न गई। साहस कर के दृढ़ता के साथ बोली—"चलिए डाक्टर साहब, भीतर चलें। यहां खड़े रहकर क्या कीजिएगा! आपसे एक विषय पर दो-चार बातें करना चाहती हूं।"

यह कहकर जल्दी में बुद्धि-भ्रम होने से उनका हाथ पकड़ना ही चाहती थी कि झट संभल गई।

मेरी बात सुनकर रज्जन चौंककर मेरा मुंह ताकता रह गया। यद्यपि मैं मन-ही-मन बहुत डरी हुई थी, तथापि इस समय मैंने उसकी दृष्टि के प्रति उपेक्षा का भाव दिखलाया।

डाक्टर साहब मेरे साथ हो लिए। बिना देखे हुए मैं समझ रही थी कि राजू उसी आश्चर्य-चकित दृष्टि से हम लोगों की ओर ताके हुए है। कैसी ही उपेक्षा क्यों न दिखलाऊं, उसका भय मेरे मन में बना हुआ था। मैं रह न सकी। कुछ दूर आगे बढ़कर पीछे की ओर मुंह कर के बोली—"राजू, तुम क्यों नहीं आते?"

"अभी आता हूं।" यह कहकर वह बरामदे में टलहने लगा।

डाक्टर कन्हैयालाल को मैं अपने कमरे में ले गई। डाक्टर साहब एक आराम कुर्सी पर बैठ गए। मैं उनके सामने एक कौच पर बैठने और लेटने की मध्यावस्था में अवस्थित हो गई। मैं अच्छी तरह से जानती थी कि मेरा इस प्रकार बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है, पर मुझे यह भी विश्वास था कि डाक्टर साहब इस प्रकार मेरे शरीर का विलास और उसकी ललित गति देख कर शिष्टता और अशिष्टता का विचार सब भूल जायंगे। प्रत्येक नारी के हृदय में येन-केन प्रकार से पुरुष को रिझाने की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है, और मैं तो इसके लिये बर्बरता की चरम सीमा तक पहुंचने के लिये भी तैयार थी।

अपने चेहरे में निर्लज्जता की लाज-भरी मुसकान झलकाती हुई मैं बोली—"डाक्टर साहब, मेरा इलाज न कीजिएगा ?"

डाक्टर साहब मुग्ध दृष्टि से मुझे ताक रहे थे और न मालूम क्या सोच रहे थे। मेरे प्रश्न से उनका मोह भंग हुआ। चौंककर बोले—"इलाज ? कैसा इलाज ? हां, ठीक है। मैं भूल गया था। आपने क्या इस दर्मियान अपना टेंपरेचर लिया था ?"

उनकी अन्यमनस्कता देखकर मैं अधिक मुस्कराई। उत्तर में बोली—"जी हां, टेंपरेचर तो लिया था। साढ़े सतानबे के इर्द-गिर्द रहता है। किसी-किसी दिन, दिन के वक्त, 'नॉर्मल' भी आ जाता है, पर ऐसा बहुत कम होता है। सुबह को तो कभी नॉर्मल नहीं रहता। बल्कि साढ़े सतानबे से भी कम रहता है।"

बड़े दुःख का भाव प्रकट करते हुए डाक्टर साहब ने कहा—"यह अच्छा नहीं। स्त्रियों का नॉर्मल टेंपरेचर तो वैसे ही पुरुषों से ज़्यादा रहता है। और आप फ़र्माती हैं कि आपका साढ़े सतानबे से भी कम रहता है। 'एनीमिया' के कारण बदन में ख़ून कम हो जाता है, और ख़ून की कमी से बदन की गरमी भी जाती रहती है। पर आपको अवश्य ही कोई-न-कोई भीतरी रोग है। किसी लेडी डाक्टर को आप पहले बुलावें।"

"आपका क्या यह ख़याल है कि लेडी डाक्टर मेरी बीमारी ठीक-ठीक मालूम करके उसका इलाज कर लेगी ?"

मेरा प्रश्न ज़रा विकट था। उसका मर्म न समझकर डाक्टर साहब बोले—"क्यों न करेगी ?"

मैंने कहा—"मुझे तो विश्वास नहीं होता !"

"तब ? आप क्या चाहती हैं ? आपकी भीतरी शिकायतों का हाल मैं कैसे मालूम कर सकता हूँ ?"

"आप क्या यह समझते हैं कि जगह-जगह रबर की नली लगाकर शारीरिक विकारों का पूरा-पूरा ब्योरा मालूम कर लेने से ही क्या मनुष्य की अस्वस्थता का कारण जाना जा सकता है ? शारीरिक विकार ही क्या सब कुछ हैं ?"

"नहीं, मानसिक विकारों पर भी 'मेडिकल सायंस' विचार करता है। 'साइकोपेथी', 'साइकिएट्री' और 'साइको-एनालिसिस' का सम्बन्ध मानसिक विकारों से ही रहता है। मनुष्य क्यों पागल होता है, क्यों अनिच्छा होने पर भी ऐसे-ऐसे काम कर बैठता है, जिनके लिये वह बार-बार पछताता रहता है, क्यों युधिष्ठिर और नल जैसे सात्विक पुरुषों में जुआ खेल कर अपना सर्वनाश करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, क्यों रूसो और टाल्सटाय जैसे महात्मा घोर नीच कर्मों में लिप्त रहे, क्यों महात्मा गांधी जैसे सहृदय व्यक्ति को जीवन-भर अंतःप्रकृति की दुर्बलताएँ सताती रही हैं, क्यों विशेष-विशेष प्रकृति के स्त्री-पुरुषों में ख़ून करने या आत्महत्या करने की उत्कट लालसा रहती है, 'साइकोपेथी', 'साइकिएट्री' या 'साइको-एनालिसिस' के अध्ययन से हमें इन्हीं बातों का ज्ञान होता है। हृदय और मस्तिष्क के सूक्ष्म कोषों के दुर्बल पड़ जाने से मनुष्य-की प्रकृति में असामंजस्य उत्पन्न हो जाता है। इस असामंजस्य के कारण वह ऐसे-ऐसे अभावनीय काम कर बैठता है और उसकी प्रवृत्तियां ऐसी अनोखी हो जाती हैं कि देखकर दिमाग़ चकरा जाता है। पर मैं मनोविश्लेषण-सम्बन्धी इलाज पर विश्वास नहीं करता। मेरा विश्वास है कि शारीरिक रोगों के कारण ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिये शरीर की दुर्बलता को उपयुक्त औषधियों द्वारा दूर करना ही मैं उचित समझता हूँ।"

१८

किस उद्देश्य से मैंने वह प्रश्न किया था और उत्तर में कैसी-कैसी अनोखी बातें सुनने में आईं ! धिक्कार है डाक्टर लोगों की मोटी बुद्धि को ! निराश

होकर मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि अचानक रज्जन अपने नंगे सिर में अपने घुंघराले, चमकीले और कोमल बालों की बहार दिखलाता हुआ, अपनी सुन्दर, शान्त, धीर, गंभीर और करुण आंखों से अपूर्व, अनिवर्चनीय ज्योति विकीरित करता हुआ, अपने रूप और व्यक्तित्व से डाक्टर साहब को चकित और मुझे गर्वित और रोमांचित करता हुआ आ पहुँचा। अपने भाई का सामान्य रूप और साधारण गुण भी देखकर किस बहन को गर्व नहीं होता ! तब ऐसे तेजस्वी भाई को देखकर मुझे कैसे उत्कट आनन्द का अनुभव होता होगा, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है।

रज्जन को देखते ही मैं सँभल कर उठ बैठी। मेरे सिर का अंचल नीचे खिसक गया था। डाक्टर साहब के सामने मैंने इस बात की कुछ परवा न की थी। बल्कि जान-बूझकर अपना सिर निर्वस्त्र ही रहने दिया था। पर रज्जन के आने पर एकदम अपना सिर ढक लिया। अंगरेज़ी में यह मसल मशहूर है कि अपराधी का मन सदा शंकित रहता है। उस कमरे में मुझे अकेले डाक्टर साहब के सामने उस अवस्था में कौच के ऊपर आधा लेटे हुए देखकर राजू अपने मन में क्या सोचेगा, इस बात का खयाल करके मैं कांपने लगी। मुझे ऐसा जान पड़ा कि मुझे उस अवस्था में देखते ही उसका मुंह पहले तो लज्जा के कारण लाल हो आया और पीछे धीरे-धीरे उसकी रंगत उतरती गई और वह पीला पड़ता गया। रज्जन को देखते ही मेरे हृदय में जो एक गर्व का भाव उत्पन्न हुआ था वह धीरे-धीरे तिरोहित होता गया और अज्ञात भय ने उसका स्थान अधिकृत कर लिया।

डाक्टर साहब रूखी हँसी हँसकर उसका स्वागत करते हुए बोले—"आइए, साहब, तशरीफ़ रखिए। मानसिक विकारों की चर्चा छिड़ रही है। आपकी बहन पूछ रही थीं कि मनुष्य की अस्वस्थता में क्या मानसिक विकारों का कोई महत्व नहीं है ? मैं कहता हूँ कि शारीरिक विकारों के कारण ही मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं। और उपयुक्त औषधियों द्वारा शरीर को सबल रखने में मनोविकार भी स्वभावतः दूर हो जाते हैं।"

किस विषय की चर्चा छिड़ रही है और किसकी नहीं, इसकी कैफ़ियत डाक्टर साहब ने प्रारम्भ में ही दे देना उचित समझा। इससे साफ़ उनकी घबराहट झलकती थी।

रज्जन जब कुर्सी पर बैठ गया तो मैंने कहा—"डाक्टर साहब कहते हैं कि महात्मा गांधी को जीवन-भर भीतरी दुर्बलताओं का सामना करना पड़ा है, रूसो और टाल्सटाय की प्रकृति सात्विकी होने पर भी उन्हें घोर नीच कर्मों में लिप्त रहना पड़ा है, मनुष्य की अंतःप्रकृति के इन सब अस्वाभाविक विकारों का उपचार 'मेडिकल सायंस' औषधि द्वारा करने में समर्थ है।"

रज्जन जब मेरी बात सुन रहा था तो उसकी आंखों में आज सहज स्नेह का भाव वर्तमान नहीं था। उसके इस भाव से मेरे हृदय में गहरी चोट पहुंची। मेरी बात समाप्त होते ही उसने मेरी तरफ़ से उसी दम मुंह फिरा लिया और व्यंग की तीखी मुसकान से डाक्टर साहब का मर्म बेधता हुआ वह बोला—"तब तो डाक्टर साहब, आप इसी दम कोई 'मिक्शचर' या 'टॉनिक' 'प्रेस्क्राइब' करके साबरमती को भेज दीजिए। महात्मा जी का दिल और दिमाग़ ठीक होने से उनके स्वभाव में 'सामंजस्य' और 'स्वाभाविकता' आ जायगी। इस प्रकार देश का कितना बड़ा उपकार होगा, इस बात का वर्णन नहीं हो सकता। उनकी प्रकृति के असामंजस्य के कारण देश कभी नीचे की ओर झुक रहा है कभी ऊपर की ओर। डाक्टरी विद्या द्वारा इसका इलाज हो सकता है, यह बात बिलकुल नयी, मौलिक और चमत्कारपूर्ण है।"

डाक्टर साहब इस समय तक घबराए हुए थे। इस बार कुछ खीझ उठे। कुछ तमककर बोले—"तो क्या आपका विश्वास साइकोपेथी' में नहीं है?"

"विश्वास? अजी राम का नाम लीजिए! यहां तो ईश्वर में भी विश्वास नहीं है, प्रकृति की करामात में भी नहीं। फिर डाक्टरी विद्या तो तुच्छ विषय है! हां, आपकी बात पर मुझे अवश्य विश्वास होना चाहिए।"

डाक्टर साहब चौंक पड़े। कुर्सी पर जरा डटकर बैठ गए और बोले—"तो क्या आप यह बात भी नहीं मानना चाहते कि उपयुक्त औषधियों के सेवन से रोग अच्छे हो जाते हैं?"

राजू ने स्थिरतापूर्वक कहा—"आप क्या सचमुच इस बात पर विश्वास करते हैं? अपनी छाती पर हाथ रखकर अपने अंतःकरण से पूछिए कि आपके इलाज से आज तक जितने रोगियों को फ़ायदा पहुंचा है वह क्या आपकी दवाइयों के सेवन से? सच्चे दिल से यह बात बतलाइए कि डाक्टरी विद्या कोई निश्चित विद्या है या अटकलपच्चू शास्त्र? प्रकृति के सुनियत और सुनिश्चित नियमों से क्या उसका कुछ भी सम्बन्ध है?"

डाक्टर साहब राजू की बात का कोई उत्तर न दे सके। पर अपनी हार स्वीकार करना वह अत्यन्त लज्जास्पद समझते थे। इस कारण कुछ अकड़-कर दृढ़ता का ढोंग रचकर बोले—"हैं क्यों नहीं! प्रकृति से उसका सम्बन्ध नहीं है तो किससे है?"

उनकी व्यर्थ की अकड़बाजी देखकर राजू कुछ अजीब ढंग से मुस्कराया। अपना स्वर अधिक कोमल करके बोला—"अच्छी बात है, साहब! यह बात मान ली कि प्राकृतिक नियमों पर ही आप लोगों की विद्या स्थित है, पर यह तो बतलाइए कि जब से सभ्य-समाज में चिकित्सा-शास्त्र का प्रचार हुआ है तब से मानव-शरीर ने कितनी तरक्की कर ली है? मैं तो स्पष्ट ही यह देखता हूं कि डाक्टरी विद्या जितनी ही उन्नति करती जाती है, मानव-समाज में रोगों की वृद्धि भी उसी परिमाण में होती जाती है। इस विंश शताब्दी में प्रति वर्ष नये-नये रोगों की सृष्टि हो रही है। प्रति वर्ष लाखों मनुष्य काल की कराल गति में बेबस बहते चले जा रहे हैं, पर डाक्टर लोग यह देखकर भी कि रुद्र के प्रलयंकर चक्र का सामना वे किसी प्रकार नहीं कर सकते, अपनी करतूत से बाज नहीं आते। मजा यह है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता आगे को बढ़ती जाती है, डाक्टरों की संख्या उससे डबल तेजी के साथ बढ़ रही है। पाश्चात्य देशों में तो उनकी संख्या गिनना भी संभव नहीं है। कुछ ठिकाना है! अब

बतलाइए, इन महापुरुषों ने संसार को क्या फ़ायदा पहुंचा रक्खा है ? क्या यूरोप और अमेरिका के लोग अब 'रोग-प्रूफ़' हो गए हैं ? महायुद्ध के फल-स्वरूप सारे संसार में 'इनफ्लूएंजा' की महामारी ने जो घोर संहार के रूप धारण कर लिया है, उसके निवारण का क्या उपाय आपकी डाक्टरी विद्या कर पाई है ?"

डाक्टर साहब ने कहा—" 'रोग-प्रूफ़' नहीं हुए—हो भी कैसे सकते हैं ! पर हां, वहां डाक्टरों की संख्या अधिक होने से वहां के लोगों को रोग कम सताया करते हैं। इधर हिन्दुस्तान का हाल देखिए ! डाक्टरों पर हम लोगों का विश्वास नहीं है, डाक्टरों को यहां उत्साह नहीं मिलता। इस-लिये हम देखते हैं कि यहां भरी जवानी में ही प्रतिदिन असंख्य स्त्री-पुरुष मौत के शिकार बनते हैं।"

व्यंग के साथ उनकी बात पर हुंकारी भरकर राजू बोला—"जी हां। यह तो है। पर आप क्या दावे के साथ यह बात कह सकते हैं कि विलायत के लोग भरी जवानी में नहीं मरते ? अनुभव यही कहता है कि भरी जवानी में जैसे भयंकर रोगों से वहां के लोग पीड़ित रहते हैं उसका अनुमान भी भारत के लोग नहीं कर सकते। मांस और मदिरा के सेवन और मायावी युवतियों के सत्संग से उन लोगों का जो महोपकार होता है, उससे परिचित होने का सौभाग्य हमारे युवकों को कहां प्राप्त होता है ! वहां के युवक इस प्रकार के घृणित भोग-विलास में रत रहने के कारण बीस वर्ष की अवस्था से ही 'कॉलिक', 'कैंसर', 'हाई ब्लड-प्रेशर', 'एपेंडिसाइटिस' और घृणित रोगों से पीड़ित होने लग जाते हैं। वहां की युवतियां तो और भी अधिक रोग-ग्रस्त रहती हैं। यह सब होने पर भी औसत में वहां के लोग हिन्दुस्तानियों से अधिक परिश्रमी होते हैं और अपेक्षाकृत लम्बी आयु भोगते हैं—इसका कारण डाक्टरी विद्या का अधिक प्रचार नहीं, बल्कि यह है कि जीवन की जो सुविधाएं उन लोगों को प्राप्त हैं वे जीवन के प्रति अनुराग की भावना उनके मन में पैदा करती हैं। जीवन के आनन्द से वे लोग परिचित हो गये हैं। और हम लोगों के हृदयों में

नाना कारणों से जीवन के प्रति विराग उत्पन्न हो जाता है।' अब सवाल यह है कि अगर डाक्टरी विद्या रोगों को उपशम करने का दम भरती है, तो जिस देश में इस विद्या की सबसे अधिक उन्नति हुई है, वहां के लोगों को रोग क्यों अधिक सताते हैं? असल बात यह है कि मनुष्य-समाज अंध, स्वतंत्रबुद्धि से हीन और अनुकरणशील है। प्रकृति के अनंत रहस्य का एक-आध बिखरा हुआ छींटा उसे कहीं मिल जाता है तो वह फूला नहीं समाता और एक-दम यह अनुमान कर लेता है कि उसने पूरे रहस्य का पता लगा लिया है। डाक्टरों ने रोगों का बाहरी रूप देखकर अपने-अपने अनुभवों से अनोखी-अनोखी दवाइयों का आविष्कार किया है। अब यह मजा हो गया है कि प्रतिदिन सैकड़ों नयी-नयी दवाइयों का आविष्कार होता जाता है और एक दवा के सेवन से जो ख़राबी पैदा होती है उसके निराकरण के लिये दूसरी दवा दी जाती है। इधर मरीज़ यह समझता है कि उसका इलाज हो रहा है। यह बड़े मजे का इलाज है, इसमें शक नहीं!"

१६

डाक्टर साहब और मैं बड़े ध्यान से उसकी बातें सुन रहे थे। इसके उत्तर में एक शब्द भी डाक्टर साहब के मुंह से नहीं निकलता था। कुछ देर तक चुप रहकर रूमाल से अपना मुंह पोंछकर वह फिर कहता चला गया—"डाक्टर लोग मनुष्य का स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये पैदा नहीं हुए हैं। उनका उद्देश्य रोगों को दमन करने का रहता है। रोगों से ही उनका संबंध रहता है। मेडिकल कालेज में वे लोग रोगों का ही अध्ययन करते हैं, स्वास्थ्य का नहीं। और तो क्या, जीवों में रोगों के कीटाणुओं का प्रवेश कराके वे विशेष-विशेष रोगों के निरीक्षण में विशेषज्ञता प्राप्त करते हैं। ऐसी हालत में स्वास्थ्य का विचार ही उनके मस्तिष्क में कैसे उत्पन्न हो सकता है! स्वास्थ्य को 'बैकग्राउंड' में रखकर रोगों के अध्ययन को प्रधानता देने का अर्थ यही है कि जीवित मनुष्य को छोड़कर उसकी छाया की गति से उसका भीतरी हाल मालूम किया जाय। इस कारण

डाक्टरी विद्या मूल में ही सत्ताहीन और ढकोसले से भरी है। असल बात यह है कि मनुष्य जन्म से ही रोग और मृत्यु की ओर, अपने अनजान में, धीरे-धीरे एक-एक पग आगे को बढ़ता ही जाता है। उसके सारे जीवन को अगर हम मृत्यु नामक तीर्थ की महायात्रा कहें तो कुछ अनुचित न होगा। क्यों आदमी पैदा होता है, क्यों मरता है, क्यों यह शरीर नाशवान् है, क्यों यह रोग-व्याधि से पीड़ित रहता है, स्वास्थ्य का आदर्श क्यों एक निरी कल्पना है, ये सब गहन तथ्य हैं। इनका पता लगाना मनुष्य की क्षमता के अतीत है। ऐसी हालत में डाक्टर लोगों का दंभ और विद्या-चातुर्य अत्यंत असहनीय जान पड़ता है। अगर संसार से डाक्टरी विद्या बिलकुल उठ जाय तो मनुष्य प्राथमिक युग के दीर्घजीवी और अपेक्षाकृत स्वस्थ जंगली लोगों की तरह स्वाभाविक जीवन व्यतीत करके बिना रोगों की चिंता के शांति से मर सके!"

मेरा विश्वास है कि डाक्टरी विद्या के संबंध में राजू का विद्वेष बौद्धिक नहीं था। इसके पहले एक बार किसी सिलसिले में उसने मुझ से कहा था कि "आधुनिक मेडिकल सायंस में यद्यपि बहुत-सी खामियां हैं, तथापि उसके कारण सभ्य समाज को बहुत कुछ लाभ हुआ है यह मानना ही पड़ेगा। विशेषकर शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र में उसने बड़ी भारी उपयोगिता का परिचय दिया है।" किंतु आज वह इस शास्त्र की कुछ भी उपयोगिता मानने को तैयार नहीं दिखाई देता था। स्पष्ट ही आज उसके विद्वेष ने किसी कारण से व्यक्तिगत रूप धारण कर लिया था।

उसकी बात समाप्त होने पर कुछ देर तक कमरे में बिलकुल सन्नाटा रहा। अचानक डाक्टर साहब ने उसकी पीठ ठोंकी और बोले—"खूब भाई, खूब! यह बड़े मजे की लेकचरबाजी रही। इतनी छोटी उम्र में ही आप जीने और मरने के सवाल के पीछे लग गए, यह अच्छा ही है, पर हम करें क्या! हमारा तो पेशा ही यही है। कोई मरे चाहे कोई जीए। यहां तो पापी पेट से मतलब है। डाक्टरी विद्या कैसी ही निगोड़ी क्यों न हो,

हमारे लिये तो कल्पवृक्ष हैं। हां, अगर आप लोग कृपापूर्वक मेरे लिये दो रोटी सुबह और दो रोटी शाम का बंदोबस्त कर सकें तो मैं अभी यह पेशा छोड़ दूं !"

डाक्टर साहब के इस सरल परिहास से राजू के मुंह से व्यंग का भाव तिरोहित हो गया। वह भी निष्कपट परिहास के स्वर में बोला—"क्यों, आप क्या अकेले हैं ? मियां-बीबी के बीच क्या तलाक़ का मामला चल रहा है ?"

"नहीं साहब, मेरे तो बीबी ही नहीं है, तलाक़ कहां से हो ! मैं बिलकुल अकेला और भार-मुक्त हूं। आप लोगों को केवल मेरी ही चिंता करनी पड़ेगी। कहिए, आप क्या राजी हैं !"

डाक्टर साहब की अवस्था प्रायः बत्तीस साल के होगी। अभी तक उनका विवाह ही नहीं हुआ है, या उनकी स्त्री की मृत्यु हो गई है, यह बात जानने के लिये मैं बड़ी उत्सुक हो रही थी। पर लाचार थी। फिर भी इस बात से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि राजू के और उनके बीच विरोध और विद्वेष का जो भाव धीरे-धीरे सुलग रहा था, वह अब ठंडा पड़ने लगा है।

राजू ने कहा—"हमें एक 'फ़ेमीली' डाक्टर की जरूरत है। आपकी इच्छा हो तो आप शौक़ से यहां रह सकते हैं।"

डाक्टर साहब को संभवतः बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले—"यह क्यों साहब ! डाक्टरों पर तो आपका बिलकुल विश्वास ही नहीं है। इसी बात पर इतनी बहस हो गई। अब आप कहते हैं कि 'फ़ेमीली' डाक्टर की जरूरत है !"

राजू ने कहा—"औरतों को यह बात कैसे समझाई जाय ! उनके लिये तो आप लोग ही सृष्टि-रक्षक हैं। अम्मां से अगर आप यहां रहने का प्रस्ताव करते तो वह फूली न समातीं।"

मैं रह न सकी। बोल उठी—"सिर्फ अम्मां ही क्यों, मैं भी आप से अनुरोध करूंगी कि आप यहीं रहें।"

मेरी यह बात बिलकुल असंगत, असामयिक और अशोभन थी। कहते ही लज्जा से मेरा सारा शरीर जर्जरित हो उठा। मैंने सिर नीचा कर लिया। राजू के मुंह की ओर ताकने का मुझे साहस नहीं हुआ।

कुछ देर तक चुप रहकर राजू ने कहा—"चलिए डाक्टर साहब, आप को सैर के लिये ले चलें। बैठे-बैठे जी उकता गया है। पार्क की हवा खाते हुए ज़रा चौक की तरफ़ हो लें।"

डाक्टर साहब प्रसन्न होकर बोले—"अच्छी बात है।"

राजू के साथ घनिष्ठता बढ़ते देखकर वह अपनी प्रफुल्लता छिपा न सके।

मैंने कहा—"मैं भी चलूंगी।"

अपनी असहनीय तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखकर राजू ने बिना कुछ उत्तर दिए मुंह फिरा लिया और वह शोफ़र को बुलाने चला गया।

दूसरा भाग

१

तबसे डाक्टर कन्हैयालाल नित्य हमारे यहां आने लगे। वह अब बिना किसी द्विविधा या रुकावट के मेरे पास आ जाया करते थे। हम दोनों अकेले घंटों बैठकर गप्पें मारा करते थे। काम की बातें कभी नहीं होती थीं। मेरे पास काम ही क्या था! पर हम लोग ऐसा भाव दिखलाते जैसे कोई बड़ा भारी दायित्व दोनों के ऊपर आ पड़ा हो, और एक दूसरे से सलाह लेना परम आवश्यक हो गया हो। जिस दिन किसी कारण से डाक्टर साहब मेरे पास न आ सकते उस दिन मिनटों को गिनते-गिनते अत्यन्त अधैर्य और व्याकुल उत्सुकता के साथ मेरा समय बीतता था।

ज्यों-ज्यों डाक्टर साहब से मेरी घनिष्टता बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों मेरी स्नायविक दुर्बलता भी ज़ोर पकड़ने लगी। उनके सामने मेरा हृदय उद्दीप्त होकर उमंग से भर जाता था, पर उनके चले जाने पर मुझे ऐसा जान पड़ता जैसे सारा शून्य अपना विकराल मुंह खोलकर मुझे निगलने को तैयार है, और एक भयंकर अवसाद के बोझ से मेरी छाती दब जाती थी। मैं गाढ़ी नींद के लिये कुटुंब-भर में विख्यात थी। पर अब धीरे-धीरे मुझे उन्निद्रा का रोग पकड़ने लगा। रात को खा-पीकर जब मैं बिस्तर पर लेट जाती तो मेरी आंखें उसी दम झपने लगतीं और कुछ देर के लिये मुझे नींद आ जाती। पर वह नींद गाढ़ी नींद नहीं कही जा सकती। अनेकानेक विकट और भयंकर स्वप्नों के उपद्रव से नींद के समय भी मेरा दिल जोरों से धड़कता रहता। कुछ ही देर के बाद अचानक नींद उचट जाती और तब मेरा भय दुगना बढ़ जाता। यद्यपि मेरे कमरे की बत्ती रात-भर जलती रहती थी, फिर

भी आधी रात में विकट स्वप्न देखने के बाद अचानक नींद उचटने पर भय के कारण मेरी आत्मा इस लोक में नहीं रहती थी। बत्ती के इर्द-गिर्द पतिंगे फड़फड़ाया करते थे। उनके फड़फड़ाने के शब्द से ही मैं बीच-बीच में चौंक पड़ती। मैं ऐसी हौलदिल हो गई कि उस कमरे में अकेले पड़े रहना मेरे लिये कठिन हो गया। लीला अम्मां के साथ सोया करती थी। जब मेरी हालत बहुत ख़राब होने लगी तब मैंने अम्मां से लीला को अपने साथ सुलाने की आज्ञा मांगी। मेरी घबराहट और डर देखकर अम्मां मुस्कुराईं।

तबसे लीला मेरे ही कमरे में सोने लगी। सोने के पहले वह कहानी सुनाने के लिये ज़िद करती। कहानी सुनाने के बाद जब वह सो जाती तो मुझे उसके निश्चित निर्विकार जीवन पर ईर्ष्या होने लगती।

एक स्त्री दूसरी स्त्री के सामने अपना डरपोकपन ज़ाहिर नहीं करना चाहती; पर पुरुष के (विशेषतया अपने प्रेमिक जन के) निकट अपनी दुर्बलता, हीनावस्था, और दुर्गति का वर्णन करने में अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करती है। डाक्टर साहब के निकट मैं दिल खोलकर अपनी शोचनीय अवस्था व्यक्त करके उनकी समवेदना उभाड़ने की चेष्टा करती थी। वह मुझे परहेज़ से रहने का उपदेश देते और एक-आध दवा 'प्रेस्क्राइब' कर जाते। मैं शौक़ और विश्वास से उस दवा को पीती थी। उनके ऊपर मेरा विश्वास देखकर राजू बहुत कुढ़ता था और बीच-बीच में बोलियां सुनाता था।

अम्मां डाक्टर साहब को देखकर बहुत प्रसन्न थीं। डाक्टर साहब भी उनके प्रति यथेष्ट श्रद्धा का भाव प्रदर्शित करते थे। एक दिन मुझे हलका-सा बुख़ार आया। अम्मां बहुत घबराईं। डाक्टर साहब के आने पर रोती हुई बोलीं—"इस लड़की की फ़िक्र के मारे मैं रात-दिन बेचैन रहती हूं, डाक्टर साहब! कभी इसे बुख़ार आता है, कभी पेट में दर्द रहता है, कभी नींद न आने की शिकायत करती है। मुझे बिलकुल आशा नहीं

रहती कि यह ज़्यादा जीएगी । इसका इलाज कीजिए, नहीं तो हम लोग कहीं के न रहे ।"

डाक्टर साहब दिलासा देते हुए बोले—"चिन्ता किसी बात की न कीजिए । इस उम्र में अस्सी फ़ीसदी स्त्रियों को रोग आ घेरते हैं । दो-एक साल के बाद इनका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक हो जायगा ।"

आज बहुत दिनों के बाद अम्मां के हृदय में मेरे प्रति स्नेह का भाव उमड़ पड़ा था । अपने सभ्य समाज के निमंत्रण-आमंत्रण और उत्सवों में व्यस्त रहने के कारण आज तक हम लोगों की ख़बर पूछने की भी फ़ुर्सत उन्हें नहीं रहती थी । यदि हमसे वह कभी बोलतीं भी तो झिड़ककर और रुखाई के साथ । मैं यह नहीं कहती कि उनके मन में हमारे प्रति स्नेह का भाव वर्त्तमान नहीं था । पर उनकी उपेक्षा आश्चर्यजनक और असाधारण थी । आज उनका हृदय मुझे देखकर भर-भर आता था । वह डाक्टर साहब के सामने रोने लगीं । शायद उन्हें इस बात का ख़याल हो आया था कि वह परिणतावस्था में 'सोसायटी' के आनन्दमय उत्सवों में सम्मिलित होकर जीवन का सुख प्राप्त कर रही हैं और उनकी लड़की नई जवानी में संगहीन, अकेली और चिन्ता-ग्रस्त रहती है—चिन्ताओं से पीड़ित रहने के कारण ही वह बीमार रहती है और आज उसे इसी कारण ज्वर आया है । मैं ठीक कह नहीं सकती कि वह क्या सोच रही थीं । पर मैंने ऐसा ही अनुमान किया ।

२

मेरा बुख़ार बढ़ता चला गया । घर के सब लोग चिन्तित हो उठे । राजू भी बहुत भी घबराया । लीला को मैं हर वक्त अपने पास रखना चाहती थी, पर वह बैठे-बैठे उकता जाती थी और बाहर खेलने चली जाती । तेरह साल की हो चली थी, पर अभी तक अज्ञान थी । उसके लिये मुझे अधिक दुःख था ।

डाक्टर साहब दिन में तीन-तीन चार-चार बार आते थे और जी-जान से मेरी टहल में लगे थे। छठे दिन मेरे सारे शरीर में भयंकर वेदना होने लगी। सिर के दर्द का तो वर्णन नहीं हो सकता। "हाय अम्मां! हाय काका! हाय राम!" चौबीसों घंटे मैं यही चिल्लाया करती।

बीमारी का बुरा हाल देखकर डाक्टर साहब चौबीसों घंटे मेरे पास रहने लगे। कभी टेंपरेचर लेते, कभी नाड़ी देखते, कभी इंजेक्शन देते, कभीं दवा पिलाते, कभी धाई को सारा बदन गरम पानी से सेंकने का उपदेश देते। उनका अक्लांत परिश्रम देखकर राजू की आंखों में भी उनके प्रति कृतज्ञता का भाव छलक उठता था, इस बात पर मैं अपनी उस बुरी हालत में भी गौर कर रही थी।

दसवें दिन मैं सन्निपात-ग्रस्त होकर बेहोश हो गई। दो-तीन दिन तक यही हाल रहा। फिर धीरे-धीरे चेतना जगने लगी। धीरे-धीरे खाने की रुचि जागरित हुई। धीरे-धीरे कमजोरी घटने लगी। प्रायः चालीस दिन के बाद मैं चारपाई से उतरकर नीचे पांव रखने में समर्थ हुई। मेरा पुनर्जन्म हो गया था। डाक्टर साहब का विजयोल्लास उनके मुंह पर उद्दाम भाव से, असंयत तीव्रता से चमकने लगा।

अम्मां कृतज्ञता से गद्‌गद होकर गिड़गिड़ाकर उनके पैरों पर गिर पड़ी। चौंककर, घबराते हुए डाक्टर साहब ने उनका हाथ पकड़ा और ऊपर को उठाया। बोले—"आप ऐसी बुद्धिमती होकर यह क्या करती हैं!"

"आप की ही वजह से मेरी लड़की की जान बच गई, नहीं तो क्या आज मैं कभी—" अम्मां अपनी बात पूरी न कर सकीं। अंचल से मुंह ढांपकर बेबस रोने लगीं

"यह कैसे हो सकता है! आदमी की क्या ताकत कि वह किसी को बचा सके और किसी को मार सके! जिसने सबको पैदा किया है उसके कोप का सामना कोई नहीं कर सकता। उसी की दया से आज हम लोग घोर अनर्थ से बच गए।"

डाक्टर कन्हैयालाल को मैं नास्तिक समझती थी। पर आज मालूम हुआ कि सृष्टि के अज्ञात परिचालक पर उनका भी विश्वास है।

मैं उनकी ओर ताककर बिना कुछ कहे, यह भाव जतलाती हुई मुस्कुराने लगी कि मेरे ऊपर उनका कोई अहसान नहीं है—अपना कर्त्तव्य समझकर अपनी गरज़ से ही उन्होंने मेरी टहल की है। मेरी इस अकृतज्ञ मुसकान के उत्तर में उन्होंने अपनी बांकी चितवन से मेरा सुकुमार हृदय चीर डाला। उनकी इस मुसकान-रहित, आवेश-विह्वल चितवन में वही चिर-परिचित नशा पूर्णमात्रा में विद्यमान था। उसकी अनिर्वचनीयता से पुलकित होकर मेरा कलेजा धड़कने लगा। जी चाहने लगा कि रो-रोकर उनके पैरों पर गिर पड़ूं और सारे कलेजे को आंसुओं के रूप में बाहर निकाल डालूं। उनकी आंखों के उज्वल, सरस, पर करुण आवेश से मेरी मुसकान किसी मंत्र के बल से तिरोहित हो गई और मेरे हृदय में गंभीर विषाद छा गया।

राजू ने आकर कहा—"डाक्टर साहब, इतने दिनों की कड़ी मेहनत से आप थक गए हैं। चलिए एलफ्रेड पार्क की ठंडी हवा से थकान दूर कीजिए।"

मैंने कहा—"मैं भी चलूंगी।"

डाक्टर साहब बोले—"यह क्यों! आपको अभी कुछ दिनों तक 'कंप्लीट रेस्ट' करना होगा।"

"तो आप लोग भी यहीं बैठे रहें। मैं यहां अकेली नहीं रह सकती।" राजू कुछ देर तक बड़े ग़ौर से मेरी ओर ताकता रहा।

"आप बैठिए डाक्टर साहब, मैं चला।" यह कहकर वह बिना किसी के उत्तर की प्रतीक्षा करके चल दिया। अपने भाई की निर्मोहिता देखकर मैं दंग रह गई।

कुछ देर तक डाक्टर साहब और मैं स्तब्ध होकर बैठे रहे। फिर डाक्टर साहब बोले—"आपके भाई सनकी और तेज़-मिज़ाज मालूम होते हैं।"

मैं बलपूर्वक चेष्टा करके मुस्कराने लगी। मेरी उस मुस्कुराहट में ग्लानि का आभास शायद स्पष्ट झलक रहा था।

३

दिन ढल चुका था। मैं अपने कमरे में बैठकर चाय पी रही थी। डाक्टर साहब इतने में आ खड़े हुए। मुझे इस समय चाय पीते देखकर आश्चर्य से पूछने लगे—"यह क्या ! आज बेवक्त क्यों ?"

मैंने कहा—"चाय के लिये मैं कभी वक्त-बेवक्त का विचार नहीं करती। जब जी चाहता है पी लेती हूँ।"

"पर माफ़ कीजिए, चाय आपके लिये किसी तरह भी फ़ायदेमंद नहीं है। मैंने आपसे 'बाइनो-हाइपोफ़ास्फ़ाइट्स' के सेवन के लिये कहा था। वह क्या आपने मंगाया है !"

"जी हां।"

"बस उसी का सेवन करते चले जाइए। चाय को विष समझकर त्याग दीजिए।"

"यह कैसे हो सकता है, डाक्टर साहब ? चाय के कारण ही मेरे प्राण टिके हैं। यही मेरे जीवन का एक आधार है और इसी को आप छोड़ देने के लिये कहते हैं !"

डाक्टर साहब खीझ उठे। बोले—"स्त्री-जाति ज़हरीली होती है। इसलिये ज़हर के पीने से उसके प्राण टिके रहें, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। विष के कीड़े विष के सेवन से ही प्राण धारण करने में समर्थ होते हैं।"

मैंने पूछा—"क्यों, स्त्री-जाति ज़हरीली क्यों होती है ?"

यह प्रश्न करते समय मैंने अपनी आंखों के विषका प्रयोग डाक्टर साहब पर करना चाहा था।

कुछ विचलित होकर अपनी दृष्टि की प्रखरता से उन्होंने मेरा मर्म बेधने की चेष्टा की। अपनी आवेश-विह्वल आंखों से एकटक मेरी ओर ताककर मन्द-मन्द मुस्कराकर मुझे मंत्र-मुग्ध करते हुए बोले—"स्त्री-जाति क्यों ज़हरीली होती है, तुम्हें क्या नहीं मालूम ?"

आज पहली बार उन्होंने मेरे लिये 'आप' के बदले 'तुम' का प्रयोग किया । अनिर्वचनीय पुलक से व्याकुल होकर मैंने कांपती हुई आवाज़ में कठपुतली की तरह मंत्र-विह्वल होकर बेबस उत्तर दिया—"नहीं ।"

"अच्छी बात है । अगर मालूम नहीं है तो मालूम करने की कोई आवश्यकता नहीं ।"

मैं कुर्सी से उठकर, न मालूम क्या सोचकर चारपाई पर बैठ गई । डाक्टर साहब अभी तक खड़े थे और अपनी बेंत की छड़ी को इधर-उधर घुमा रहे थे । मैं अपनी स्प्रिंग की चारपाई का ऊपर का डंडा पकड़कर उसके सहारे लेट गई । पर कुछ ही देर के बाद लोहे के डंडे की कठिनता के कारण मेरी पीठ की हड्डी दुखने लगी और मैं सँभलकर उठ बैठी । दोनों हाथों को चारपाई की दोनों ओर फैलाकर मैंने अपने पांव नीचे को लटका दिए । मेरी साड़ी सिर से नीचे को खिसक गई थी । मैंने उसे फिर से ऊपर को समेटने की कोई आवश्यकता नहीं समझी ।

अपना यह अद्भुत विलास डाक्टर साहब को दिखलाती हुई मैं बोली—"बैठिए डाक्टर साहब, आप खड़े क्यों हैं !"

घबराहट और भ्रांति के कारण डाक्टर साहब शायद पहले चारपाई के ऊपर ही बैठने को आगे बढ़े थे, पर किसी अज्ञात शक्तिद्वारा अकस्मात् नियंत्रित होकर एकदम ठिठककर सामने वाली आराम कुर्सी पर बैठ गए । मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ी ।

लज्जित और सम्भवतः अपमानित होकर डाक्टर साहब बोले—"क्यों, हँसने की क्या बात है ?"

"माफ़ कीजिए डाक्टर साहब, मेरा मन आज ठिकाने नहीं है । इस लिये बिना किसी कारण के बावली-सी हँस रही हूं । बहुत सम्भव है थोड़ी ही देर में रोने लगूंगी ।"

डाक्टर साहब दोनों हाथ जोड़कर स्तुति का स्वांग रचकर बोले—"हे मायावती, तुम धन्य हो ! जब हँसी आई, तुम हँस देती हो, रोना आया रो देती हो । हँसने और रोने के बीच की अवस्था से तुम्हारा कोई सरोकार नहीं । आत्मा को पीस देने वाली यह भयंकर मध्यावस्था भगवान ने पुरुष के लिये ही रची है ।"

हाथ जोड़ने के समय भी चांदी की मूठ वाली बेंत की छड़ी उनके हाथ में ही थी । मैंने कहा—"स्तुति के समय पुष्प और पत्र से देवी-देवता की अर्चना होती है । आप क्या बेंत से मेरी अर्चना करने चले हैं ?"

डाक्टर साहब ठठाकर हँस पड़े । अकस्मात् दरवाजे पर राजू आ खड़ा हुआ । यमदूत भी यदि वहां पर प्रत्यक्ष दिखलाई देता तो भी मैं शायद इतनी भयभीत न होती जितनी उसके आने पर हुई । सिर को अंचल से ढककर हड़बड़ाती हुई मैं चारपाई पर से उठ बैठी । डाक्टर साहब भी सन्न थे ।

राजू बिना कुछ कहे उलटे पांव लौट चला । मैं सोचने लगी—"क्या यह भी मेरे भाई की तरह रूपवान है ?"

४

हमारे कालेज की लड़कियों ने एक नाटक खेलने का उद्योग किया था। बीमार होने के सबब मैं कोई 'पार्ट' इस साल न ले सकी थी । फिर भी नाटक देखने की बड़ी इच्छा थी । राजू के लिये अलग निमन्त्रण आया था । नाटक-मंडली की सेक्रेटरी साहिबा उसपर विशेष रूप से प्रसन्न थीं। एक ही दिन के परिचय में वह उसके गुणों पर मुग्ध हो गई थीं । पर राजू ने जाने से साफ़ इनकार कर दिया । इधर डाक्टर कन्हैयालाल इस नाटक के लिये विशेष उत्सुक और लालायित हो रहे थे । इस नाटक में पुरुषों के लि

निषेध था। पर एक नियम यह था कि सेक्रेटरी की अनुमति से दो-चार विशेष-विशेष पुरुष प्रवेश कर सकते हैं। सेक्रेटरी से डाक्टर साहब के दुर्लभ गुणों का बखान करके मैंने उनके लिये अनुमति मांगी। कमलिनी (सेक्रेटरी का यही नाम था) इस ढंग से मुस्कुराने लगी जैसे वह मेरे दिल की सब बातें ताड़ गई हो। बोली—"ऐसे गुणवान पुरुष को स्त्रियों की महफिल में लाना क्या ख़तरे की बात नहीं है ?"

मैंने पूछा—"ख़तरा कैसा ?"

"अरी पगली, समझती नहीं ? तेरे अनुमोदित और इच्छित पुरुष की आंखें जब इतनी अलबेली नारियों पर दौड़ेंगी तो क्या फिर वह तेरी परवा करेगा ?"

"दुर !" कहके मैंने, गुस्से में आकर उसकी पीठ पर एक धौल जमा दी। पर उसकी इस बात से मेरे हृदय में भय का संचार होने लगा।

कमलिनी ने कहा—"अच्छी बात है। मुझे कोई ऐतराज़ नहीं। पर मैं सावधान किए देती हूं। पीछे पछताना पड़ेगा।"

युनिवर्सिटी के लड़कों और प्रोफ़ेसरों के साथ कमलिनी की बड़ी घनिष्ठता थी। बहुत सम्भव है, उन लोगों के स्वभाव से परिचित होने पर वह पुरुषों की प्रकृति से अभिज्ञ हो चुकी थी। उसकी बात से कुछ भय होने पर भी मुझे विशेष चिन्ता नहीं हुई। मुझे अपने रूप-गुण का बड़ा घमंड था। किसी व्यक्ति को मुझे छोड़कर अन्यत्र जाने का लोभ हो सकता है, यह आशंका मेरे हृदय में उत्पन्न नहीं हो सकती थी।

अम्मां ने जाने का विचार किया था। पर सिर में दर्द हो जाने के कारण वह न जा सकीं। लीला जाना चाहती थी, पर राजू ने उसे समझा-बुझाकर रोक लिया। मुझ से राजू ने कुछ नहीं कहा; और ऐसा भाव प्रदर्शित किया जैसे मैं उसकी बहन ही नहीं हूं। डाक्टर साहब की संरक्षकता में मैं रात को खा-पीकर चल पड़ी।

नाटक-गृह के भीतर प्रवेश करके देखा कि वह वृहत् कक्ष विलासवती युवतियों और नवीना किशोरियों की सुमधुर गुंजार से मुखरित था। एक-आध कोने में दो-एक पुरुष भी दृष्टिगोचर हो रहे थे, पर वे इस स्त्री-सागर में बुद्बुद की तरह विलीन होने को थे। ऐसी हालत में एक प्रखर व्यक्तित्व-सम्पन्न दर्शनीय पुरुष को बगल में लेकर भीतर प्रवेश करने में मैं लज्जा से गड़ी जाती थी। हमारे प्रवेश करते ही तत्काल सैकड़ों उज्ज्वल आंखें हमारी ओर आ लगीं। डाक्टर साहब ने सगर्व एक सरसरी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई। स्त्री-समाज की मुग्ध दृष्टि से उल्लसित होने के कारण उनका चेहरा तमतमाने लगा। मैं मन-ही-मन कहने लगी—"हे गोपीजन-वल्लभ! तुम्हें नमस्कार है।"

डाक्टर साहब की दृष्टि अत्यन्त चंचल हो गई थी। वह कभी बाईं तरफ़ की युवतियों को घूर रहे थे, कभी दाहिनी तरफ़ को ताकते थे और कभी पीछे को। मैंने ईर्ष्या से जलकर धीमे स्वर में उनके कान के पास जाकर कहा—"क्या तृप्ति नहीं होती?"

चौंककर वह बोले—"एं! यह क्या कहती हो! मैं अपने एक 'फ्रेंड' को ढूंढ़ रहा था!"

"पुरुष या स्त्री!" प्रश्न करते समय मेरी आवाज़ कांप गई थी। यह बात शायद डाक्टर साहब के ध्यान में आ गई। इसलिये उत्तर देते समय वह पल-भर के लिये हिचकिचा गए।

बोले—"थे तो पुरुष ही, पर शायद यहां स्त्री के आकार में मिल जांय, यह दुराशा मेरे मन में समा रही थी।"

उत्तर देने का यह ढंग बिलकुल नया था, इसमें सन्देह नहीं। पर वह साफ़ बनावटी था। मैं कुढ़कर, जी मसोसकर रह गई। मन में कहने लगी—"कौन चुड़ैल इनकी संगिनी है, यह बात अगर मालूम हो जाती तो एक बार कलमुही को देख लेती कि वह मुझसे कितनी अच्छी दिखलाई देती है।"

५

पर्दा उठा। आरम्भ में परियों का मंगल-गान कोरस में गाया जाने लगा। अलबेली युवतियां नाना रंगों के मनोहर वस्त्र पहनकर, आभूषणों से सज्जित होकर, बालों को बिखेरकर, पौडर से रंजित होकर, विद्युत् के उज्ज्वल प्रकाश से प्रदीप्त और प्रफुल्लित होकर, सुकोमल और सुकुमार अंगों को संचालित कर, कोकिल-कंठों से स्वर-लहरी तरंगित कर दर्शक-मंडली को मंत्र-मूढ़ करने लगीं। डाक्टर साहब यह दृश्य देखकर, इंद्रपुरी में भी अप्राप्य मधुर गान सुनकर शायद इस लोक में नहीं थे। उनका मुग्ध होना तो स्वाभाविक ही था। पर मैं भी इन नवेली परियों के सुकुमार हृदयों की उड़ान से अनमनी और उदास हो गई। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं युवावस्था में पदार्पण करने के पहले ही जवानी की सभी उमंगें खो चुकी हूं। आज पहली बार मुझे मालूम हुआ कि जिन उमंगों के कारण मैं अपने को युवती समझती थी वे अत्यन्त तुच्छ और अकिंचित्कर हैं। आज मेरी आंखों के सामने अनन्त-यौवन-सम्पन्न परियों का वास्तविक लोक उद्घाटित हो गया था, और मैं भाई-बहन, माता-पिता और डाक्टर साहब की समस्त चिन्ताओं को तिलांजलि देकर अकेली उस रंग-उमंगमय लोक में विचरना चाहती थी।

गाना बन्द हुआ। दुबारा गाए जाने के लिये तालियां पड़ीं। फिर वही गीत गाया गया। फिर मेरे मन को उसी पूर्व उन्माद ने आ घेरा। मैंने उसी बेहोशी की हालत में डाक्टर साहब का हाथ पकड़ लिया। डाक्टर साहब भी शायद अज्ञात ईथरीय तरंगों से प्रेरित होकर इसके लिये पहले से ही तैयार थे। उन्होंने प्रतिरोध करके अपना हाथ नहीं छुड़ाया, केवल एक बार सतृष्ण और स्निग्ध आंखों से मुझे ताककर उन्होंने अपनी दृष्टि फेर ली।

गाना समाप्त हुआ। उसके समाप्त होते ही मेरा नशा उतर गया। इतना भयंकर तूफ़ान मेरे मन में उठा था, और वह इतनी जल्दी समाप्त हो गया! चैत और वैशाख के महीने में अक्सर देखा जाता है कि आंधी और तूफ़ान के भयंकर वेग से आसमान में प्रलयंकर बादल छा जाते हैं, बिजली की कड़-

कड़ाहट के साथ पृथ्वी को बहा ले जाने वाली धाराएँ बरसने लगती हैं । ऐसा जान पड़ने लगता है कि अब पृथ्वी-सुंदरी लाज-शरम सब बिसारकर, अपनी सन्तति की माया छोड़कर, उन्मादिनी बनकर अकेली अनन्त की ओर बही चली जाती है, अब वह कभी लौटकर न आवेगी । हाय माता ! तुम्हारा स्वप्न, तुम्हारा उन्मादक और उत्तेजक मोह क्षण-भर में नष्ट हो जाता है और फिर तुम सन्तान के पास लौटकर, सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में सुमधुर लज्जा से रंजित, और सुमन्द वायु के ताड़न से वृक्षों के पत्रों द्वारा कम्पित होकर अपनी पूर्व उत्तेजना के कारण संकुचित हो जाती हो ।

ठीक यही हाल मेरा भी था । उस क्षणिक पर भीषण उमंग से उत्तेजित होने के कारण मैंने डाक्टर साहब का हाथ पकड़ लिया था । गाना समाप्त होते ही जब नशा उतर गया तो तत्काल मैंने उनका हाथ छोड़ दिया और लज्जा के कारण धरती फाड़कर उसमें समा जाने की इच्छा हुई ।

खेल आरम्भ हुआ । उत्तररामचरित खेला जा रहा था । जो युवतियां राम और लक्ष्मण का वेष धारण कर रंगमंच में विराजमान थीं उनकी नपुंसकता देखकर मेरे हृदय में अश्रद्धा उत्पन्न हो गई । जब राम महाशय अपनी ज़नानी आवाज़ से नख़रे के साथ नकिया कर सीता को 'प्रिये' कहकर पुकारते थे, तो मेरा जी घृणा से मचल-मचल उठता था ।

मूल नाटक के खेल में कोई विशेषता नहीं थी । इसलिये मैं उसे देखकर उकता गई थी । पर बीच-बीच में बिना किसी कारण के परियों का नाच दिखलाया जा रहा था और नाच के साथ उनका गाना भी चल रहा था । यह दृश्य मेरे लिये अत्यन्त उत्तेजक और उन्मादक था । परियों का नाच-गान आरम्भ होते ही मैं बिलकुल बेचैन और आपे से बाहर होती जा रही थी । कितना ही मैं अपना मन रोकती थी, पर किसी पर किसी तरह भी सफल नहीं होती थी। अन्तिम बार 'ड्रॉप सीन' गिरने के पहले जो नाच हुआ वह ऐसा सम्मोहक और आकर्षक था कि मेरी नसों में बड़ी तेजी से रक्त प्रवाहित होने लगा और उत्तेजना के कारण सिर में झनझनाहट पैदा हो गई । मैं रह न सकी और

अर्द्धमूर्च्छित-सी होकर बेबस डाक्टर साहब के कन्धे के सहारे लेट गई । उस भरी महफ़िल में लाज-शरम सब खोकर मैंने अर्द्धचेतन अवस्था में दोनों हाथों से उनका गला जकड़ लिया ।

पर्दा गिरा । खेल समाप्त हुआ। डाक्टर साहब मुझे जगाकर बोले—"लज्जा, चलो सब चलने लगे हैं ।"

आज पहली बार उन्होंने मेरा नाम लेकर मुझे पुकारा था । मैं उनका हाथ पकड़कर कांपती हुई उठ खड़ी हुई । उनका हाथ पकड़ने में मैं अपना गौरव समझने लगी थी ।

६

मोटर में जब चढ़ बैठी तो उसी उन्मादावस्था में उन्हें जकड़े रही । मन में कहने लगी—"प्यारे, मुझे घर मत ले जाओ ! सीधे मौत के घर ले चलो । आज से मेरा घर से सब सम्बन्ध टूट गया है । काका, अम्मां, राजू, लीला, मैं किसी के पास अब नहीं जाना चाहती और वे भी अब मुझे नहीं चाहेंगे । आज की उन्मादिनी रात्रि में केवल तुम्हारे अंग के विद्युत्-स्पर्श से मूर्च्छित होकर मरने के लिये ही भगवान ने मुझे आदेश दिया है । मुझे मौत की गोद में ले जाकर छोड़ दो !"

स्तब्ध रात्रि के उस विजन-पथ पर मौत का बिगुल बजाकर मोटर बड़े वेग से आगे बढ़ी । उज्ज्वल प्रकाश की दो सुदूर-प्रसारित रेखाएं उस मृत्युगामी रथ को यमलोक का मार्ग दिखला रही थीं । हर्ष, उन्माद और तीक्ष्ण वेदना से पीड़ित होकर मैं डाक्टर साहब की छाती में अपना मुंह रखकर बिलख-बिलख कर सिसक-सिसककर बेअख्तियार रोने लगी । डाक्टर साहब का घन-घन उष्ण निःश्वास मेरे सिर के बालों को आन्दोलित कर रहा था । कह नहीं सकती कि शोफ़र को मेरे रोने का हाल मालूम हुआ या नहीं ।

थोड़ी देर में मोटर हमारे भवन के फाटक के पास आकर उसी की ओर मुड़ी । मैं अबतक समझे थी कि सचमुच मौत के ही द्वार की ओर जा

रही हूं । फाटक के भीतर जब मोटर घुसी तो मेरा मोह भंग होने लगा। प्रचण्ड आंधी के समय जब नाव मझधार में बहकर डांवाडोल होने लगती है, उस समय दुबिधा में पड़े यात्रियों के दिल की जो हालत होती है वही मेरी भी हुई । उस समय मेरे पास यदि कटार होती तो मैं क़सम खाकर कह सकती हूं कि उसी दम अपनी छाती में भोंक देती। ऐसे भीषण उन्माद का अन्तिम परिणाम यह हुआ है कि मैं साधारण अवस्था की तरह अपने घर को वापस चली आई ! चाहिए तो यह था कि इस अंधेरी रात में मैं किसी अंधेरे चट्टान से टकराकर चकनाचूर हो जाती, किसी अँधेरी, भयावनी गुफा में धंस कर मर जाती, किसी उत्ताल तरंगमाला-समाकुल भीषण समुद्र के काले-काले जल में फांद पड़ती, तब जाकर मेरे हृदय की उत्कट ज्वाला शान्त होती । पर ऐसा न होकर मुझे नित्य की तरह शान्त अवस्था में अपने कमरे में जाकर सोने की तैयारी करनी पड़ी ! क्या इससे अधिक शोचनीय अवस्था की कल्पना की जा सकती है ?

मेरे कमरे की बत्ती जली हुई थी । लीला शायद आज अम्मां के साथ सो रही थी । डाक्टर साहब मेरे कमरे तक मुझे पहुंचाने आए थे । मेरी हालत देख कर वह बहुत घबराए-से जान पड़ते थे । कमरे में पहुँचने पर बोले—"लज्जा, शान्त होकर सो जाओ । दिमाग़ में बहुत 'स्ट्रेन' पड़ने से तुम दुबारा बीमार पड़ जाओगी और ऐसा होना बहुत ख़तरनाक है ।"

मैंने अपनी उन्माद-भरी दृष्टि से उनकी ओर ताका । वह अधिक घबरा गए । कुछ देर तक भ्रांत भाव से ताकते रहे, फिर "मैं चला" कहकर मुंह फेरकर चल दिए ।

चारों तरफ़ सब लोग निस्तब्ध हो कर सो रहे थे । कहीं से किसी के खकारने या खांसने की आवाज़ भी नहीं सुनाई देती थी । उस भयंकर रात्रि में उस अवस्था में मैं अकेली अपने कमरे में खड़ी थी । अकस्मात् एक प्रचंड भीति के भाव ने मुझे धर दबाया । मेरे पैर उसी हालत में ज़मीन पर जकड़ गए और मैं उन्हें बिलकुल न हिला सकी । जोर से

चिल्लाने की इच्छा हुई, पर किसी कारण से चिल्ला न सकी। बड़ी मुश्किल से, प्रबल चेष्टा करके मैं पलँग पर चढ़ बैठी। पलंग पर चढ़ने से स्प्रिंग के दबने के कारण जो आवाज हुई उससे कांप उठी। भय के कारण मुझे कपड़े बदलकर, सोने के समय की पोशाक पहनने की हिम्मत भी नहीं हुई। उन्हीं कपड़ों को लेकर कंबल ओढ़ कर लेट गई। सिर की नसें बड़े जोरों से झनझना रही थीं, दिल बेतहाशा उछल रहा था।

बहुत देर के बाद जब मेरी अवस्था कुछ शांत हुई तो,, न जाने क्यों, मुझे याद आया कि राजू और लीला दस बजे रात से इस समय तक शांत और निरुद्वेग होकर सोए हुए हैं।

७

दूसरे दिन डाक्टर साहब किसी कारण से नहीं आए। मैं दिन-भर बड़ी उत्सुकता से उनकी बाट जोहती रही। आज मुझे उनकी बड़ी आवश्यकता थी। आज मैं और किसी दूसरे व्यक्ति के सहारे की आशा नहीं कर सकती थी। मेरे मन की तत्कालीन हीनता केवल उन्हीं के साथ मिलकर सुख-दुःख की बातें करने से मिट सकती थी। पर वह किसी तरह नहीं आए। जिनके कारण अपने प्यारे भाई की आंखों में गिरना मैंने स्वीकार किया वह मेरे जीवन की इस विकट स्थिति में, इस नाजुक हालत में क्या मुझे त्याग देना चाहते हैं ?—इस भयंकर विचार से मेरे रोएं खड़े होने लगे। रात के जागरण से मेरी आंखें झप रही थीं। मैं पलंग पर लेटे-लेटे बीच-बीच में झपकियां लेती जाती थी और फिर इस आशंका से हड़बड़ाकर उठ बैठती थी कि मुझे सोते देखकर कहीं डाक्टर साहब वापस न जले जायं। नौकर से पूछती जाती थी कि डाक्टर साहब आकर चले तो नहीं गए ? बार-बार इसी एक प्रश्न से तंग आकर वह आखिर रह न सका। बोला—"क्यों बीबी, तुम नाहक प्राण खाती हो ? अगर आए होते तो क्या हम तुम्हें जगा न

देते ? हमें मालूम है कि उनके बिना तुम्हारे प्राण कैसे सूखे जाते हैं। रात-भर जागरण किए बैठी हो, बेफिकिर सो क्यों नहीं जातीं ! उनकी फिकिर तुम्हारी ही तरह हमें भी लगी है ।"

यह नौकर बुड्ढा था और बड़ा पुराना था । उसने मुझे अपनी गोद में खेला रक्खा था इसलिए उसकी बात सह गई। नहीं तो यदि कोई दूसरा नौकर होता तो उसी दम काका से कहकर उसे निकलवा देती । मेरे कर्मों का ही दोष था, इसलिये मन मारकर सबकी बोली-ठोली सह लिया करती थी ।

में सोचने लगी कि डाक्टर साहब से हेलमेल बढ़ाना ऐसा कौन भारी अपराध है कि उसकी वजह से घर-भर के लोग मेरे ख़िलाफ़ हो उठे हैं ! यह स्पष्ट था कि काका भी इस बात से विशेष प्रसन्न नहीं थे । यह होने पर भी उन्होंने मुझे प्यार करना नहीं छोड़ा था । पर राजू ने तो एकदम विद्रोह की ही घोषणा कर दी थी । वह मेरे साथ अब बातें तक न करता था । उसका यह विद्वेष कैसा अन्यायपूर्ण था ! किसी युवती कुमारी का किसी विशेष पुरुष को चाहना बिलकुल स्वाभाविक है और सामाजिक नियमों के अनुकूल भी है । यह कौन अंधेर की बात है ! यह भी नहीं कहा जा सकता कि राजू नासमझ और बुद्धिहीन था । उसके समान समझदार और बुद्धिमान व्यक्ति मुझे कोई नहीं दिखलाई दिया था । यही कारण था कि उसका अमूलक और अकारण विद्वेष मुझे और भी अधिक खटक रहा था और मेरे कलेजे को अत्यन्त निष्ठुरता के साथ आरी की तरह चीर रहा था ।

"राजू, भैया मेरे, मुझे क्षमा करो ! एक प्याला ज़हर का लाकर मुझे पिला जाओ ! मेरी और कोई दूसरी गति नहीं है ।" मन-ही-मन यह कहकर मैं पछाड़ खाकर, औंधे होकर तकिए के ऊपर सिर रखकर लेट गई और रोने लगी ।

दीनों की टेर सुनने वाले दीनदयालु भगवान की तरह राजू को न मालूम

कैसे मेरी टेर सुनाई दी। अचानक मेरे कमरे में आकर उसने पुकारा—"दीदी !" कैसी मीठी, कैसे मधुर स्नेह से भरी उसकी आवाज़ थी ! मैं क्षण-भर के लिये पुलकित और रोमांचित होकर मूच्छित-सी रह गई। मन-ही-मन उसकी बलैया लेती हुई हड़बड़ाकर उठ बैठी। आंखें पोंछकर अनजान-सी बनकर बोली—"कौन ? राजू ? क्या बात है ?"

मेरी आंखों में आंसू के दाग़ शायद अभी तक वैसे ही बने थे। पोंछने पर भी नहीं मिटे थे। मेरी ओर ताकने पर राजू की आंखें भी करुणा से म्लान हो गईं।

उसने पूछा—"क्या तबीअत कुछ ख़राब है ?"

"नहीं, कुछ ख़राब नहीं। रात को जगे रहने के सबब कुछ सुस्ती आ गई थी।"

"तो चलो, कहीं सैर को चले चलें। सब सुस्ती दूर हो जायगी।"

"कहां चलोगे ?"

"जिधर को तुम्हारी इच्छा है।"

"मेरी इच्छा किसी ख़ास जगह के लिए नहीं है।"

"तो मेस्टन रोड की तरफ़ चलें।"

"अच्छी बात है", कहकर मैं चारपाई से नीचे उतर पड़ी और दूसरे कमरे में जाकर कपड़े बदलने लगी। कपड़े बदलते-बदलते मैं यही सोचने लगी कि आज राजू की विशेष कृपा का कारण क्या है। मुझे पूरा विश्वास था कि यदि डाक्टर साहब मेरे साथ होते तो वह कदापि मेरे साथ चलने को राजी न होता। आज डाक्टर साहब नहीं थे, और मैं अकेली थी। शायद इसीलिये मुझ पर तरस खाकर वह मुझे बुलाने आया था।

कपड़े बदलकर, बाल सँवारकर, सजधजकर मैं बाहर आई। लीला भी चलने के लिये तैयार होकर बाहर खड़ी थी।

राजू ने कहा—"फिटन तैयार है । उसी में जाना होगा । मेरी मोटर कोई ले गया है । दूसरी कोई मोटर मुझे पसन्द नहीं ।"

८

फिटन माल रोड से होकर जाने लगी । राजू और मैं अपनी-अपनी चिंताओं में मग्न थे । हम दोनों में से किसी के मन में बातें करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती थी । पर लीला बड़ी चंचल और प्रसन्न-चित्त लड़की थी । वह बीच-बीच में अपने उद्भट प्रश्नों से हम लोगों को तंग कर रही थी ।

जब हम लोग मेस्टन रोड के पास पहुंचे तो राजू बोला—"अब तुमसे बात क्या छिपाऊँ, दीदी ! मैं तुम दोनों को अपने एक मित्र के यहां लिए जाता हूं । अपने मित्र की अम्मां को मैं भी अम्मां कहता हूँ । वह बहुत दिनों से तुम दोनों को लिवा लाने के लिये ज़िद करती थीं । आज तुम्हें उन्हीं के पास लिए चलता हूं ।"

राजू के मित्र के साथ परिचय होने में मुझे कोई एतराज़ नहीं था ।

कुछ दूर आगे बढ़कर एक गली के पास राजू ने गाड़ी को रोक लेने की आज्ञा दी ।

हम लोग गाड़ी से उतरकर गली के भीतर घुसे । मकानों के नीचे नाली से होकर गंदा पानी बह रहा था । बड़ी बदबू आती थी । मैंने रूमाल से नाक ढक ली । मुझे मन-ही-मन बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि राजू हमें कहां ले आया है । पर मुझमें उस समय कुछ बोलने की शक्ति नहीं थी । मैंने आज अपने जीवन में पहली बार बाज़ार के भीतर का मकान देखा था । इसलिये हैरत में थी ।

मकान के सब से नीचे जो कमरा था उसके पास जाकर राजू ने पुकारा—"भोला !"

कोई आवाज नहीं सुनाई दी । चारों तरफ की बड़ी-बड़ी दीवालों से मकान ढका था, इसलिये वहां प्रकाश अच्छी तरह नहीं प्रवेश कर सकता था। संध्या का समय होने के कारण इस समय और भी अधिक अंधेरा हो रहा था। बरामदे के भीतर जाकर जब वह उस कमरे के बिलकुल समीप गया तो मालूम हुआ कि वहां ताला लगा है ।

भोला के मिलने की आशा छोड़कर वह हमें सीढ़ियों के रास्ते से होकर ऊपर ले गया । ऊपर दरवाजे के पास पहुंचकर वह पुकारने लगा--"अम्मां ! दीदी !"

भीतर से युवती-कंठ की मीठी आवाज सुनाई दी--"कौन है ? राजू ?"

राजू बोला--"हां, मैं ही हूँ । किवाड़ खोलो ।"

राजू की यह आश्चर्यमयी दीदी कैसी है, यह जानने के लिये उत्सुक होकर मैं अधैर्य के साथ खड़ी रही ।

खट-से दरवाजा खुला । मैंने देखा कि चौबीस-पच्चीस साल की एक युवती दाहिने हाथ में प्रायः दो साल का एक बच्चा पकड़े, लाल रंग में रंगे हुए खद्दर की एक अर्द्ध-मलिन साड़ी पहने, अपनी शान्त और स्तिमित आंखों से आश्चर्यपूर्वक मुझे और लीला को ताकती हुई वहां पर खड़ी है । उसके मुंह का रंग गेहुँआ था--उसमें उज्ज्वलता नहीं पाई जाती थी । पर वह कैसा प्यारा मुंह था !

मैं स्पष्ट देख रही थी कि मेरा और लीला का ठाठ देखकर वह चकित रह गई थी और शायद इसी कारण उसे हमें भीतर बुलाने की हिम्मत नहीं होती थी ।

राजू ने कहा--"इन दोनों को देखकर क्या घबरा गई हो, दीदी ! चलो, इन्हें भीतर ले चलो !"

"आओ बहन", कहकर उसने पहले मेरा हाथ पकड़ा और फिर लीला का । मेरा उत्साह पहले ही ठंडा पड़ गया था । अब बिलकुल ही जाता रहा ।

दो अंधेरे कमरे पार करके हम लोग एक तीसरे कमरे में आए । यह कमरा बाज़ार की तरफ़ था । वहां एक अधेड़ स्त्री के पास बैठकर दो बच्चे लीला की उम्र की एक लड़की के साथ खेल रहे थे ।

राजू ने उस अधेड़ स्त्री को प्रणाम किया और कहा—"अम्मां, आज अपनी बहनों को आपके दर्शन के लिये ले आया हूं ।"

राजू की अम्मां ने कहा—"आओ बेटा, बैठो । बहनों को ले आए, अच्छा किया । आओ बेटी, सामने आओ, जरा तुम्हारा मुंह तो देखूं ।"

संकोच और घृणा से मेरा सारा शरीर जर्जरित हो राह था । मुझे राजू पर क्रोध आ रहा था । क्यों वह मुझे संध्या के अंधकार में ऐसे अज्ञात स्थान में ले आया ? मुझे डर मालूम हो रहा था ।

फिर भी मैंने मन मारकर राजू की 'अम्मां' को प्रणाम किया । लीला ने मेरा अनुकरण किया ।

"कैसा सुन्दर चांद-सा मुखड़ा है !" कहकर वह बड़े स्नेह से मेरे गालों पर हाथ फेरने लगी । मैं नाक-भौंह सिकोड़कर, मन-ही-मन मचलकर रह गई । वह बोलीं—"तुम राजू की ही बहन हो, इसमें सन्देह नहीं ।"

राजू खिलखिलाकर हँस पड़ा ।

राजू की 'दीदी' ने लालटेन जलाई । उजाला देखकर बच्चे उछल पड़े । इस अंधेरे घर में प्रकाश का कितना मूल्य था यह बात मैं घर में प्रवेश करते ही समझ गई थी । 'दीदी' की गोद में जो दो साल का बच्चा था वह बत्ती जलते ही उसकी तरफ़ दोनों हाथ जोड़कर उमंग में आकर बोला—"जै !" उसे शायद ऐसा करना सिखलाया गया था ।

यह सब तो ठीक था, पर मैं एक बात के लिये बड़ी दुबिधा में पड़ गई थी । उस कमरे में बैठने के लिये मुझे कहीं एक कुर्सी भी नहीं दिखलाई दी । नीचे फ़र्श पर एक मैली दरी बिछी हुई थी और उसके ऊपर दो छोटे-छोटे पुराने क़ालीन पड़े हुए थे । राजू बड़े आराम के साथ क़ालीन के

ऊपर बैठ गया था। पर मैं नीचे कैसे बैठती! हाय राजू! तुम कब के बैर का बदला लेने मुझे यहां ले आए! अपने जीवन में आज तक मैं कभी फ़र्श पर नहीं बैठी थी। लीला का भी यही हाल था। पर वह राजू की कट्टर भक्त थी। राजू को नीचे बैठे देखकर उसे नीचे बैठने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। वह उसी की बग़ल में बैठने लगी। पर राजू ने न मालूम क्या सोचा, उसे नीचे नहीं बैठने दिया। कमरे के कोने में एक चारपाई पड़ी थी। उसने लीला का हाथ पकड़कर उसीके ऊपर बैठा दिया और मुझसे भी उसीके ऊपर बैठने को कहा। यद्यपि चारपाई पर का बिस्तर साफ़-सुथरा नहीं था, तथापि फ़र्श की अपेक्षा उसी पर बैठना मैंने अच्छा समझा।

लीला की उम्र की जो लड़की वहां पर बैठी थी, वह चुपके-से भीतर गई और एक पुरानी, टूटी हुई कुर्सी लाकर राजू से बोली—"भैया, तुम इसपर बैठ जाओ।"

पर राजू बड़ा ज़िद्दी आदमी था। फ़र्श पर से हटा नहीं।

६

बूढ़ी अम्मां ने मुझसे कहा—"मैं जानती हूं, बेटी, कि तुम रंगमहल में रहती हो। भगवान की दया से तुम्हारे पास चार पदार्थ मौजूद हैं। सब तरफ़ से तुम भरी-पूरी हो। पर यह होने पर भी ग़रीब लोगों की कुटी में पांव रखने से भगवान कभी तुमसे असन्तुष्ट नहीं होंगे। दुनिया में बड़े लोग कितने कम होते हैं! सारी सृष्टि दरिद्रों के ही भार से दबी हुई है। इस हालत में तुम कहां तक दीन-हीन लोगों से बचकर, संभल-संभलकर चलोगी? किसी-न-किसी समय उनकी गंदगी से तुम्हारे बेदाग़ पांवों में मैल लगेगी ही। आज श्रीगणेश इसी घर से हुआ समझो।"

किसी बात को समझाने का यह ढंग बिलकुल नया था। अत्यन्त संकुचित होकर मैं बोली—"नहीं अम्मां, मैं तो आपके दर्शन से अपना सौभाग्य समझती हूं।"

"सौभाग्य की कोई बात नहीं है, बेटी। यह मेरा ही सौभाग्य है कि तुम्हारा चांद-सा प्यारा मुखड़ा देख पाई हूँ। राजू से कब से कहती थी। आज आखिर वह दोनों बहनों को ले ही आया।"

हमारे भीतर आने के समय जो दो छोटे-छोटे बच्चे खेल रहे थे वे राजू की नई दीदी का अंचल पकड़कर उसीके साथ खड़े थे और आश्चर्य-चकित दृष्टि से मुझे और लीला को देख रहे थे।

राजू ने अपनी जेब से विलायती मिठाई की एक पुड़िया निकालकर दोनों को अपने पास बुलाया और दोनों को गोद में बैठाकर बड़े लाड़ से उन्हें अपने ही हाथ से मिठाई खिलाने लगा। पर उन लड़कों की विस्मित आंखें हमारी ही ओर लगी थीं। मिठाई खाते-खाते वे दोनों एकटक हमारी ओर ताक रहे थे।

बड़े लड़के ने बड़ी हिम्मत बांधकर एक बार राजू से पूछा—"ये कौन हैं, भैया ?"

राजू ने कहा—"दीदी।"

"दोनों ?"

"हां।"

बूढ़ी अम्मांने कहा—"दीनू, रामू, जाओ, दोनों को प्रणाम कर आओ।"

दोनों ने तत्काल उठकर हमें प्रणाम किया। मैं क्या कहकर उन्हें आशीर्वाद दूं, कुछ समझ में न आया। चाहिए तो यह था कि दोनों का हाथ पकड़-कर मैं उनसे लाड़ की दो-चार बातें करती। पर मेरे मन में दोनों के प्रति अकारण घृणा पैदा हो गई थी। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि राजू ने कैसे बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया था। दोनों के कपड़े यद्यपि धुले हुए और साफ़-सुथरे थे, पर उनमें सौष्ठव नहीं था। दोनों के चेहरों से भी बोदापन टपकता था।

उनके प्रणाम के उत्तर में मैं केवल मुस्कराई। बच्चों के अन्तस्तल में भी शायद अपमान की एक अस्फुट, अस्पष्ट, अनुभूति वर्त्तमान रहती है। अपने

प्रणाम का स्नेहपूर्ण उत्तर न पाने पर दोनों कुछ देर तक खड़े-खड़े अत्यन्त विरस भाव से हमारी ओर ताकते रहे ।

जिस युवती ने दरवाज़ा खोला था वह अचानक गम्भीर स्वर में बोली—"दीनू, रामू, इधर चले आओ !"

दोनों दौड़कर उसके पास चले गए । शायद वह दोनों की मां थी । मैंने उसकी ओर ताका । देखा कि पुत्रों के अपमान से माता का अभिमान प्रचंड तीव्रता के साथ उसकी आंखों में झलक रहा है । मैं डर गई और हौलदिली के कारण मेरा कलेजा धड़कने लगा । मुझे ऐसा मालूम होने लगा जैसे मैंने कोई घोर अनर्थ का काम कर डाला है । उस युवती के मुंह के तात्कालिक तेज से मेरी आंखें वास्तव में चौंधिया गईं । अब तक उसके मुंह से एक बात भी नहीं निकली थी । पर इस एक अत्यन्त तुच्छ और साधारण बात से उसका सारा अन्तःकरण मेरी आंखों के सामने स्पष्ट प्रभासित होने लगा । मैं उसी दम समझ गई कि राजू क्यों इस तेजोमयी माता के पुत्रों को प्यार करता है और अपने हृदय की संकीर्णता पर मुझे दुःख हुआ । पर यह होने पर भी दरिद्र घर की इस युवती का वह दर्प मुझे अत्यन्त असह्य और कड़वा जान पड़ा ।

राजू को भी शायद रंगढंग अच्छे नहीं दिखाई दिए । इसलिये उसने बूढ़ी अम्मां की ओर मुंह करके कहा—"अच्छा अम्मां, अब चलें । भोला अभी तक नहीं आया, उससे कल मिल लूंगा ।"

अम्मां ने कहा—"क्या करूं बेटा, लाचार हूं । तुम्हारी बहनों को यहां बुलाया, पर उन्हें कुछ भी खिला-पिला न सकी । इस दरिद्र घर की बनी हुई क्या चीज़ उन्हें पसन्द आ सकती है ? इसलिये कुछ कह न सकी ।"

"वाह, यह भी कोई बात है अम्मां ! तुम्हारे हाथ का प्रसाद ये दोनों कहां पा सकती हैं ? मैं तो रोज़ ही तुम्हारा प्रसाद पाकर अपने को धन्य समझता हूं । पर आज देर हो गई है । फिर किसी दिन इन्हें लेता आऊंगा ।"

"ज़रूर लेते आना, बबुआ !" कहकर अम्मां ने उसके गालों पर हाथ फेरा और लीला के और मेरे सिर पर हाथ रखकर हमें आशीर्वाद दिया ।

जब हम लोग जाने लगे तो बच्चों की माता—राजू की दीदी—उस तेजस्विनी युवती ने मेरा हाथ पकड़कर मुझसे कहा—"यहां आने पर तुम्हें जो कुछ कष्ट हुआ उसे भूल जाना, बहन !" इस समय कैसा स्निग्ध और करुण उसका कंठ था ! मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा । पर चुप रहना घोर नीचता है, यह सोचकर मैं बोली—"कष्ट किस बात का दीदी ! तुम लोगों का प्यार पाकर मैं अपने को आज कृतार्थ समझती हूँ ।"

जो लड़की लीला की समवयस्का थी वह लालटेन हाथ में पकड़कर हमें रास्ता दिखाने चली । सीढ़ियों से नीचे उतरकर जब हम लोग बाहर फाटक के पास पहुँचे तो वह अपने मुंह में अत्यन्त मधुर हास्य की झलक दिखलाकर बड़े मीठे स्वर में स्नेहपूर्वक बोली—"राजू भैया, कल तुम्हें ज़रूर आना होगा ।"

उसकी बात से ऐसा जान पड़ा कि राजू पर उसका विशेष अधिकार है । तेरह-चौदह वर्ष की लड़की के मुंह से स्नेह से पूर्ण और अधिकार से भरी वह वाणी सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गई । इस समय तक मैं उसके प्रति उदासीन थी । पर अब मैंने लालटेन के प्रकाश में गौर से उसे देखा । उसकी दो सुन्दर, उज्ज्वल आंखों में स्नेह, करुणा, हास्य और बुद्धिमत्ता का अपूर्व मिश्रण वर्तमान था ।

राजू ने कहा—"ज़रूर आऊंगा, बहन ! अब तुम लौट जाओ ।"

१०

घर पहुंचने तक रास्ते-भर मैं केवल यही सोचती रही कि राजू ने संसार के नाटक का कैसा अनोखा दृश्य आज मुझे दिखलाया है ! कभी मेरे मन में घृणा उत्पन्न होती थी, कभी एक अपूर्व, अज्ञात वेदना । बूढ़ी अम्मां ने कहा था कि संसार में 'बड़े लोग' बहुत कम होते हैं—सारी सृष्टि केवल उन्हीं लोगों के समान दरिद्रों के भार से दबी है । मैंने सोचा कि यदि यह बात सच है तो संसार से मेरा परिचय कितना अल्प है ! पर कुछ भी हो, राजू ने क्या समझकर इस दरिद्र परिवार से नाता जोड़ा है ? वह क्या अपने जीवन में

किसी 'रोमांस' की इच्छा रखता है, या वास्तव में दरिद्रता को अपनाना चाहता है ? मुझे याद आया कि वह बिना किसी झिझक के नीचे फ़र्श पर बैठ गया था और उसने बड़े लाड़ से दोनों बच्चों को गोद में बैठा लिया था । यह तो किसी तरह भी 'रोमांस' -प्रिय व्यक्ति की ख़ामख़याली नहीं कही जा सकती । उन लोगों के साथ बिना एकप्राण हुए कोई ऐसा नहीं कर सकता । भोगैश्वर्य से पूर्ण घर में लालित होकर, रात-दिन विलासिता की तड़क-भड़क में अपना जीवन बिताकर वह कैसे अपने हृदय में बद्ध संस्कारों को उखाड़ कर फेंकने में समर्थ हुआ ! और वह भी इतनी छोटी अवस्था में ! उसकी अवस्था इस समय केवल अठारह वर्ष की थी । दुःख, आश्चर्य, घृणा और श्रद्धा के भाव बारी-बारी से मेरे हृदय में उमड़ने लगे । आज मैं समझ गई हूं कि भगवान के दिए हुए विपुल जीवन की स्वाभाविक वृत्तियों का असली खेल दरिद्र गृहों में ही पाया जा सकता है । धनी और सभ्य समाज का तुच्छ शिष्टाचारपूर्ण जीवन कुछ निश्चित रेखाओं के भीतर नियम-बद्ध होकर चला करता है । इस जीवन के सुख-दुख भी 'टाइम-टेबिल' में लिखे हुए, सुनिश्चित, नियमित और सीमा-बद्ध होते हैं । पर दरिद्र-गृह का जीवन अनेकानेक उलटे-सीधे चक्रों के फेर से सुविस्तृत, प्रकृति की मूल शक्ति द्वारा परिचालित, आत्मा के भीतरी पीड़न द्वारा निर्झर की तरह उत्सारित और शान्त करुणा तथा स्निग्ध वेदना से ओस की बूंदों को झलकाने वाली विजन निशा की तरह उन्मुक्त होता है । अनेक जन्मों के संस्कारों से राजू इसी प्रकार के वास्तविक जीवन के लिये लालायित था। यह बात आज मुझे स्पष्ट विदित हो रही है । पर उस समय मैं उस जीवन का महत्त्व बहुत कम समझे हुए थी । इसलिये राजू की ख़ामख़याली से संतुष्ट नहीं थी ।

और लालटेन से हमें रास्ता दिखाने वाली वह प्यारी लड़की ! राजू उसे किस दृष्टि से देखता है ? यह नयी भावना मेरे मन में समाई । मैं जानती थी कि मेरी संगिनी और सहपाठिनी जितनी भी लड़कियों से उसका परिचय था उनके साथ वह अच्छी तरह से बातें तक न करता था । पर इस

दीन-हीन लड़की का उसपर इतना अधिकार कैसे हो गया ! यह कितने आश्चर्य की बात थी, इसे केवल मैं ही समझ सकती हूं ।

और मातृगर्व से गम्भीर, सन्तान की वेदना से परिक्लान्त वह तेजोमयी युवती ! अठारह वर्ष की अवस्था में राजू उसके हृदय की महत्ता से परिचित हो गया था और सन्तान का स्नेह भी इस छोटी अवस्था में उसके हृदय में अस्फुट रूप से परिस्फुट होने लगा था । अन्यथा क्यों वह इस युवती माता के हृदय की वेदना को अपनी श्रद्धांजलि प्रदान कर रहा था ! पर मैं यद्यपि स्त्री थी, तथापि उन छोटे-छोटे बच्चों को देखकर मेरे हृदय में नाम को भी चेतना उत्पन्न नहीं हुई । यह कितने बड़े आश्चर्य की बात थी ! 'सेल्यू-लाइड' या गटापार्चा की बनी हुई एक ख़ूबसूरत गुड़िया को मैं जी-जान से प्यार कर सकती थी, पर दरिद्र की सन्तान उन दो बच्चों के लिये मेरे मन में असह्य घृणा का भाव उत्पन्न हो रहा था । एक ही ढंग से, एक ही घर में पले हुए हम दो भाई-बहन में इतना बड़ा प्रभेद था ।

आज का अद्‌भुत दृश्य देखकर मैं अपने सीमाबद्ध हृदय की दुर्बलताओं पर अच्छी तरह से विचार करना चाहती थी, पर प्रबल चेष्टा करने पर भी अपने अन्तस्तल की मूलगत जड़ता के कारण या अन्य किसी कारण से उन्हीं दुर्बलताओं को हृदय में इस तरह जकड़े रहने की इच्छा होती थी मानो वे मेरी जन्म-जन्म की प्यारी सहचरियां थीं ।

सोचते-सोचते मैं उकता गई और दिमाग़ में ज़ोर पड़ने के कारण सिर में दर्द होने लगा । गाड़ी के घोड़े बड़ी तेज़ी से दौड़ रहे थे । एक लम्बी सांस लेकर मैंने लीला के मुंह पर दृष्टि डाली । कैसा भावहीन, अनुभूतिहीन, चिन्तारहित, आमोद-प्रिय वह मुंह था ! जिस बालिका ने अपना स्नेहाधिकार प्रकट करके राजू से कहा था कि कल तुम्हें ज़रूर आना होगा, उसके हृदय की संयत तीव्रता से क्या इस सरल-प्रकृति और बोदी लड़की के निस्तेज चांचल्य की कुछ भी तुलना हो सकती थी ? मैं मन में कहने लगी—"हाय प्यारी बहन ! राजू हम दोनों बहनों को कर्त्तव्य के कांटों से कंटकित जिस

गहन मार्ग की ओर ढकेलाना चाहता है उसमें चलने का साहस और शक्ति हम कहां से लावें !"

११

घर आकर जब मैंने विलासिता के नाना उपकरणों से सुसज्जित अपने 'कमरे में प्रवेश किया तो ऐसा जान पड़ा जैसे किसी अपरिचित दूरस्थित देश से लौटकर मैं अपनी दुनिया में आ गई हूं। दरिद्रता, दुःख और शोक की जो अप्रिय भावना मेरे मन में गड़ गई थी वह किसी माया के बल से तिरोहित हो गई और काल्पनिक आनंद की नयी-नयी उमंगें मेरे मन में हिलोरें लेने लगीं। नाटक के खेल के समय और उसके बाद जिस अनोखे नशे ने मुझे घर दबाया था उसकी मधुर और उत्तेजक स्मृति फिर धीरे-धीरे जागरित होने लगी। फिर से डाक्टर साहब की रसीली, मद-भरी आंखें मेरे मानस में झिलमिलाने लगीं। मैं अपनी कल्पना और वासना से स्वयं झूमने लगी और मद-विह्वल होकर मधुर मूर्च्छा के विलास से पलँग पर लेट गई। आंखें बन्द करके अर्थहीन स्वप्नों की तरंगों में बहने लगी।

अचानक बाहर दरवाजे से जादू से भरा हुआ वही चिर-परिचित कंठ सुनाई दिया—"क्या मुझे भीतर प्रवेश करने की आज्ञा है?"

भीतर प्रवेश करने की आज्ञा? प्राणप्यारे! तुम्हें क्या खबर नहीं कि मेरे भीतर तुम कब से प्रवेश किए, अधिकार जमाए बैठे हो! एक पल के लिए भी मैं तुम्हें हटने नहीं देती। जान-बूझकर फिर क्यों अनजान बनते हो?

मैं उठ बैठी और बोली—"आइए कृपानिधान! तशरीफ़ लाइए! यह नया ढंग कब से सीखा है?"

मादक स्वप्नों के रंग से रँगे हुए मेरे मुख पर शायद आज कुछ विशेषता थी। डाक्टर साहब जब भीतर आए तो मुझे देखकर उनका चेहरा भी तमतमाने लगा।

जब वह बैठ गए तो मैंने कहा—"आज यह देर कैसी !"

बोले—"आज कई मरीज़ों को देखना था। अभी जिस मरीज़ को देखकर मैं आ रहा हूं उसकी हालत ऐसी ख़राब है कि बिलकुल 'हॉरिबल' समझो। मैं तुम से उसका कुछ वर्णन नहीं कर सकता। तमाम बदन में फोड़े हो गए हैं, चेहरा इतना सुस्त हो गया है कि मांस का कहीं पता नहीं चलता, फोड़ों से मवाद निकलता जाता है जिसके सबब बदबू से वहां पर मिनट भर नहीं रहा जाता, इधर-उधर करवटें नहीं बदल सकता, मलमूत्र के लिये उठ नहीं सकता, तिसपर मज़ा यह कि वह खाने के लिए रुचि बतलाता है, पर हज़म नहीं कर सकता। घरवाले उसकी टहल करते-करते अब थककर उकता गए हैं। सब मन में यही सोच रहे हैं कि उसके प्राण-पखेरू उड़ जायं तो तकलीफ़ से बचे। पर यह बात कोई मुंह से नहीं निकाल सकता। मेरी समझ में नहीं आता कि उसके लिए क्या उपाय किया जाय। ऐसी हालत में कोई दवा क्या असर कर सकती है ! उसका कराहना ऐसा भयंकर मालूम होता है कि आतंक छा जाता है। उचित तो यह होता कि ज़हर देकर उसे मार डाला जाता। पर मन में झिझक पैदा होती है। तुम्हारी क्या राय है ?"

मेरी राय ? वर्णन सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे। इस हालत में मैं राय क्या देती ! तत्काल मेरे मन में यह आशंका उत्पन्न हुई कि सब मनुष्यों के शरीर की बनावट तो एक-सी ही होती है। जब किसी कारण से इसी व्यक्ति की तरह मुझे भी यही रोग हो गया तब मेरी क्या गति होगी ? इस समय तो मैं अपने रूप के घमंड के मारे ज़मीन पर पांव नहीं रखती। सर्वांग में एसेंस छिड़ककर सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर रही हूं। जवानी की उमंग में आकर पुरुषों को अपने वश में करने का भी दावा रखती हूँ। पर जब, ईश्वर न करे, फोड़ों के कारण मेरा शरीर विकृत हो जायगा, उनमें से मवाद निकलने के कारण बदबू से वहां पर कोई खड़ा न रह सकेगा, निरतिशय पीड़ा से मैं कराहने लगूंगी तब कौन मुझे पूछेगा ? हाय मेरे भगवान ! मनुष्य का शरीर क्यों तुमने इतना सुंदर बनाया और जब सुंदर बनाया था तो क्यों ऐसी बुरी तरह से उसकी दुर्गति हुआ करती है ?

सोचते-सोचते मेरा सारा शरीर जर्जरित होने लगा और मैं ऐसा अनुभव करने लगी जैसे अभी-अभी मेरे शरीर में स्थान-स्थान पर फोड़े उत्पन्न होने लगे हों। वहम के सबब बेबस होकर मैंने कहा—"यह कैसा लोमहर्षक वर्णन आपने सुनाया ! मुझे भी इसी रोग का वहम होने लगा है । कहीं मुझे भी यह बीमारी न हो जाय !'

मेरी बात सुनकर डाक्टर साहब ठठाकर हँस पड़े। उनकी हँसी से मेरा भय कुछ दूर हुआ । मैं फिर अपना ललित विलास व्यंजित करके मुस्कराने लगी । हाय री मानव-हृदय की चंचलता !

मैंने कहा—"नहीं डाक्टर साहब, आज सचमुच मेरी तबीअत ख़राब है । ज़रा मेरी नाड़ी देखकर मालूम कीजिए । कितनी तेज़ चल रही है !" यह यहकह कर मैंने अपना हाथ आगे को बढ़ा ही तो दिया ।

डाक्टर साहब के मन में कोई झिझक उत्पन्न हुई या नहीं, कह नहीं सकती । पर उन्होंने एक बार मेरे मुंह की ओर ताककर धीरे से मेरा हाथ पकड़ लिया और कलाई के दो-तीन स्थानों पर उंगलियां फेर कर, मेरे सारे शरीर में रोमहर्ष और हृदय में विचत्र धड़कन पैदा करते हुए एक निश्चित स्थान पर अपनी उंगलियां जमा लीं और वह बांएं हाथ के 'रिस्ट-वाच' में 'टाइम' देखने लगे ।

मिनट-भर देखकर बोले—"आपका 'पल्स-बीट' बिलकुल 'नॉर्मल' है । कह नहीं सकता कि किस वजह से तुम्हारी तबीअत ख़राब हो गई ।"

मैंने कहा—"क्या बतलाऊं डाक्टर साहब, मैं भी ठीक-ठीक नहीं बतला सकती कि कैसे मेरी तबीअत ख़राब हो गई ।"

राजू ने आकर बड़े ज़ोर से व्यंग के रूप में कहा—"आदाबअर्ज़, डाक्टर साहब ! मिजाज-शरीफ़ ?"

मैंने सोचा कि यदि नाड़ी देखने के समय राजू आया होता तो कैसा अंधेर न हो गया होता ! फिर सोचा—"राजू क्या हर रोज़ हम दोनों की

घात में बैठा रहता है ? ठीक नियत समय पर क्यों मेरे कमरे में पहुंच जाता है ?"

डाक्टर साहब ने उत्तर दिया—"अरे साहब, मिजाज के बाबत कुछ पूछिए मत । कल लड़कियों का जो नाटक देखा, उसके कारण हालत कुछ अजीब हो गई है ।"

"क्यों साहब, हुआ क्या ?"

"क्या बतलाऊं, नाज़नीन परियों का नज़ाकत से भरा हुआ नाच देख कर और दिल को लुभाने वाला गाना सुनकर मैं कल रात से आपे में नहीं हूँ। आपने ऐसा अच्छा मौक़ा हाथ से जाने दिया ।"

मैंने साफ़ देखा कि असह्य लज्जा से राजू का सारा मुंह रंग गया । बहन के सामने भाई से इस तरह की बातें करना मार्जित रुचि के कितने विरुद्ध था, यह मोटी बात डाक्टर साहब की बुद्धि में नहीं समाई । और वह भाई भी राजू की प्रकृति का ! क्रोध और भय के कारण मेरा दिल जोरों से धड़कने लगा ।

नौकर ने आकर कहा—"खाना तैयार है ।"

हम लोग इस विकट संकटमय स्थिति से बच गए । मैंने कहा—"चलिए डाक्टर साहब, आज आपको हमारे ही साथ खाना होगा ।"

बिना किसी एतराज़ के वह बोले—"अच्छी बात है ।"

१२

डाइनिंग टेबिल में अम्मां और काका हमारे इंतज़ार में बैठे थे । डाक्टर साहब को देखकर अम्मां उछल पड़ीं । पारस्परिक अभिवादन के बाद अम्मां ने कहा—"आज बहुत दिनों के बाद आपके साथ खाने का सुअवसर प्राप्त हुआ ।"

राजू हमारे साथ नहीं आया था। नौकर के आने पर काका ने कहा—"रज्जन को बुलाओ।"

नौकर के चले जाने पर काका ने डाक्टर साहब से पूछा—"कहिए, कल रात का 'प्ले' कैसा रहा ? आपके पसंद आया या नहीं ?"

उत्तर में डाक्टर साहब मधुर लाज के साथ मुस्कराए, फिर बोले—"साहब, सच बात तो यह है कि लड़कियां बिना लड़कों की सहायता के ऐसे कामों में कभी सफल नहीं हो सकतीं। हां, एक बात वहां जरूर देखने लायक थी। लड़कों को स्त्रियों का पार्ट खेलते मैंने अक्सर देखा है। पर कल जब मैंने लड़कियों को पुरुषों का पार्ट खेलते देखा तो यह नयी बात मुझे बहुत पसंद आई। लड़कियों की यह चेष्टा सराहनीय थी।"

काका बोल उठे—"हॉरिबुल !"

हम सब चौंक पड़े।

डाक्टर साहब ने पूछा—"क्यों साहब ?"

"जो लड़की मर्द बनकर स्टेज पर खड़ी हो सकती है, वह क्या नहीं कर सकती ! का न करइ अबला प्रबल ?"

मुझे और अम्मां को हँसी आ गई, पर डाक्टर साहब का मुंह गंभीर हो आया। बोले—"आपका यह 'सेंटिमेंट' न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। जब लड़के स्त्रियों का पार्ट खेल सकते हैं तो लड़कियों को क्या पुरुषों का पार्ट खेलने का अधिकार नहीं है ? क्यों इसे आप इतना भारी अपराध समझते हैं ?"

काका का स्वभाव था कि वह अपनी किसी भी बात का विरोध नहीं सह सकते थे। अपने हठ और अकड़बाज़ी के लिये वह प्रसिद्ध थे। उनकी आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं। शेर की तरह गरजकर बोले—"'सेंटिमेंट'? आप सेंटिमेंट को क्यों इतना महत्त्वहीन समझते हैं ? युक्ति ही क्या संसार में सब कुछ है ? आपको खबर नहीं कि 'सेंटिमेंट' के

ही आधार पर सारी सृष्टि स्थित है। युक्ति से सांख्यिक लोग यह सिद्ध कर दिखाते हैं कि नारी केवल अस्थि, मांस, मेद, मज्जा और रक्त की समष्टि है, तब फिर क्यों लोग उसके वशीभूत होते हैं ? कारण स्पष्ट ही यह है कि पुरुष अपने हृदय में किसी 'सेंटिमेंट' की प्रेरणा से नारी के आत्मिक चैतन्य का अनुभव करता है—वह युक्ति द्वारा उसके शरीर के प्रत्येक अवयव का विश्लेषण नहीं करना चाहता। यही बात दूसरे संटिमेंटों के संबंध में भी कही जा सकती हैं। शील, संभ्रम, लज्जा, गांभीर्य—ये स्त्री के प्रधान गुण माने जाते हैं। सिर्फ़ हमारे ही देश में नहीं, संसार के सभी सभ्य देशों का यही हाल रहा है। इन्हीं गुणों के कारण पुरुष स्त्री का क़ायल रहा है। पुरुष के अन्तस्तल में स्त्री के देवीत्व का आदर्श न जाने आदिमकाल के किस युग से जमा हुआ है। इसलिये वह चाहे स्त्री के ऊपर कैसा ही भयंकर अत्याचार करे, पर फिर भी स्त्रीत्व के प्रति उसके हृदय में अकपट भक्ति और प्रगाढ़ श्रद्धा पाई जाती है। जिन गुणों के कारण वह स्त्री के देवीत्व का क़ायल है, पुरुष का अनुकरण करते ही उनका लोप हो जाता है। इसीलिये मैं कहता था कि जो स्त्री मर्द बनकर स्टेज पर खड़ी हो सकती है और इस बात पर अपना गौरव समझती है, उसमें स्त्री का सर्वश्रेष्ठ गुण—मातृ-हृदय का सुमधुर, सरस गांभीर्य—कभी नहीं पनप सकता। इसी तरह सार्वजनिक या सामाजिक स्टेजों पर मर्दों की करतूत दिखलाने वाली स्त्री भी माता बनने के योग्य नहीं है।"

अंतिम आक्षेप स्पष्ट ही अम्मां के प्रति था। काका की उत्तेजना देखकर और उनकी चुभती हुई बातें सुनकर हम लोग सब सन्न रह गए। इधर कुछ समय से काका प्रगतिशील नारी-समाज के प्रति अकारण खड्ग-हस्त हो उठे थे, यह मैं गौर कर रही थी। अम्मां यद्यपि स्पष्टतः अपने को अपमानित समझ रही थीं, तथापि काका का रुख़ देखकर कुछ उत्तर देने का साहस उन्हें नहीं होता था। डाक्टर साहब भी घबराए हुए जान पड़ते थे। पर उनका विरोध करने की शक्ति किसी में नहीं थी। मुझे ऐसा लग रहा था कि वह केवल अम्मां से ही नाराज़ नहीं है; इधर की मेरी 'हरकतें' भी संभवतः उन्हें पसन्द नहीं थीं।

नौकर ने कहा—"छोटे बाबू तबीअत ख़राब बतलाते हैं—खाने को नहीं आना चाहते।"

वाद-विवाद में पड़े रहने के कारण राजू का ख़याल ही किसी को नहीं था। नौकर शायद जवाब लाकर कुछ देर से खड़ा था। इस समय मौक़ा पाकर उसने राजू की याद दिलाई। मैं तत्काल समझ गई कि डाक्टर साहब को भोजन के लिये आमंत्रित करने के कारण ही वह रुष्ट हो गया है और तबीअत का ख़राब होना केवल एक बहाना है।

अम्मां और काका बड़े चिन्तित हुए। काका ने कहा—"तबीअत ख़राब है! बात क्या है? कुछ भी हो, डाक्टर साहब यहां मौजूद हैं। चलिए डाक्टर साहब, ज़रा उसे देख तो लीजिए।" यह कहकर काका उठने को तैयार हुए।

डाक्टर साहब ने कहा—"बात कुछ समझ में नहीं आती। अभी तक तो वह मेरे साथ बातें कर रहे थे। मुझसे उन्होंने कुछ नहीं कहा।"

इतने में राजू वहां स्वयं आ पहुंचा और बोला—"मैं पेट में कुछ दर्द-सा मालूम कर रहा हूं, इसलिये इस वक्त खाना नहीं चाहता। आप लोग खाइए। मेरी चिन्ता न कीजिए।"

यह कहकर वह उलटे पांव लौट चला। डाक्टर साहब भी शायद अब उसके बहाने का कारण थोड़ा-बहुत समझ गए थे। इसलिये मुस्कराते हुए काका से बोले—"इन्हें सोने के पहले गरम पानी के साथ एक गोली हिंगाष्टक चूर्ण की दीजिएगा।"

हम सब लोग खिलखिलाकर हँस पड़े। काका ने कहा—"वाह साहब, वाह! ख़ूब! आप तो आयुर्वेद में भी पारंगत हो गए हैं। विलायती दवा का पानी छोड़कर आप हिंगाष्टक प्रेस्क्राइब करने लगे। ख़ूब!"

"इनका मर्ज़ भी तो साहब, देसी है। ज़रा-ज़रा-सी बात में इनका मिज़ाज बिगड़ जाता है, और मिज़ाज बिगड़ने से पेट में दर्द होगा, यह तो मानी हुई बात है।"

डाक्टर साहब का यह आक्षेप अत्यन्त रूक्ष था। कह नहीं सकती कि राजू के कानों में यह बात गई या नहीं। पर यह मेरे कानों में भी खटकने लगी।

१३

कुछ भी हो, राजू की मानसिक प्रवृत्ति देखकर मैं हैरान थी। मैं सोचने लगी—"क्यों वह डाक्टर साहब को देखकर इस क़दर जलता है?" उसका आज का व्यवहार किसी तरह सभ्य और सुशिष्ट नहीं कहा जा सकता था। मेरे मन में विद्रोह का भाव समा गया। अपने सनकी और युक्ति-हीन भाई पर बड़ा क्रोध आया। मैंने सोचा—"पर्दानशीन औरतों को पर-पुरुषों के साथ बातें करने का अधिकार नहीं होता। इस सत्यानाशी प्रथा के विरुद्ध अब देश-भर में आन्दोलन मच रहा है। पर हमारे घर में स्त्री-स्वाधीनता पूर्णरूप में वर्त्तमान होने पर भी राजू को यह बात बेतरह अखरती है है कि मैं डाक्टर साहब के साथ बेधड़क बातें करती हूं। यह कैसा अन्याय है! नहीं, इस अन्याय का विरोध करना ही होगा। राजू का लिहाज़ करने और उससे डरने से काम नहीं चलेगा!" सोचते-सोचते क्रोध के कारण मैं दांतों को पीसकर रह गई।

खा-पीकर मैं डाक्टर साहब के साथ अपने कमरे में आई। डाक्टर साहब ने प्रस्ताव किया कि किसी एक अंगरेज़ी सिनेमा-घर में एक बिलकुल नया और सनसनी फैलाने वाला फ़िल्म दिखाया जा रहा है, वहां चलना चाहिए।

मैं राजू के अन्याय का बदला लेना चाहती थी। इसलिये प्रतिहिंसा के भाव से प्रेरित होकर तत्काल सम्मत हो गई। जिस तरह से राजू अधिक से अधिक जले, अब मैं वही उपाय चाहती थी। बिना किसी की आज्ञा लिए, गुप्त रूप से शोफ़र को सूचित करके हम दोनों निकल पड़े। मैं बाहर से गरम कोट पहन लाई थी और गले में मुलायम पशम भी डाल लाई थी। पर फिर भी जाड़े से शरीर कांप रहा था। कह नहीं सकती कि मेरा जाड़ा कितना कल्पित था और कितना वास्तविक। आज मैंने जो असीम दुस्साहस

का काम किया था, उसके कारण भी शायद सर्वांग में कँपकँपी मालूम होती थी। कुछ भी हो, मैं मोटर में बैठे-बैठे डाक्टर साहब के कंधे पर हाथ रखकर तरह -तरह के स्वप्नों में निमग्न हो गई। अभिसार की इस निस्तब्ध, अंधकारमयी रात्रि में मेरा प्रेमिक मुझे बिना ढूंढ़े मिल गया था, उसे मैं कैसे छोड़ सकती थी ?

बहुत देर तक हम दोनों मंत्र-विह्वल की तरह स्तब्ध होकर बैठे रहे। अचानक डाक्टर साहब ने अत्यन्त धीमे स्वर से मेरे कान में कहा—"लज्जा, क्या सिनेमा में जाना ज़रूरी है ?"

"तब कहां जाओगे ?"

प्रश्न करते समय मेरा कलेजा धड़क रहा था।

डाक्टर साहब बोले—"चलो, लौट चलें।"

मैं ग़ुस्से से कांपने लगी। बोली—"तब क्यों मुझे इतनी दूर लाए ?"

"अच्छा सिनेमा में नहीं, किसी दूसरी जगह चलें ?"

"कहां ?"

डाक्टर साहब ज़रा हिचकिचाए। उनकी हिचकिचाहट देखकर मैं किसी अज्ञात आशंका से सिहर गई। मेरे दिल की धड़कन बढ़ने लगी। कुछ देर बाद वह बोले—"अच्छा चलो, सिनेमा में ही चलें।"

डाक्टर साहब की इस संशय और द्विविधा से भरी बातों को सुनकर मैं बेतरह घबरा गई और डर के कारण मैंने और भी ज्यादा मजबूती से उन्हें जकड़ लिया।

सिनेमा हाल में पहुंचने पर विद्युद्दीप्त प्रकाश से मेरा भय कुछ दूर हुआ। राजू को मेरे प्रणय-पलायन का समाचार विदित हुआ या नहीं, यह बात सोच-सोचकर मेरे शरीर में लोमहर्ष उत्पन्न हो रहा था—कह नहीं सकती कि यह लोमहर्ष भय के कारण था या प्रतिहिंसा-जनित आनन्द के कारण। पर फिर भी राजू के हृदय की जलन की कल्पना से मेरे हृदय की हालत अजीब होती

जाती थी। भाई के प्रति ऐसी उत्कट प्रतिहिंसा का भाव किसी बहन के हृदय में कभी उत्पन्न हुआ है या नहीं, मैं नहीं जानती। मैंने अपने मन में कहा—"विवाह होने के बाद यदि मैं किसी पर-पुरुष के प्रति आसक्त होती तो राजू का यह दुर्भाव मैं किसी तरह सह लेती। पर अविवाहित अवस्था में जब मैं किसी पुरुष को चाहती हूं, और उससे विवाह की बात सोचती हूं—" मैं अधिक सोच न सकी। फिर एक बार कुढ़कर दांतों को पीस कर रह गई।

पर मेरे विवाह के सम्बन्ध में काका और अम्मां के मन में क्यों चिन्ता उत्पन्न नहीं होती, यह सोचकर मैं हैरान थी। इसमें सन्देह नहीं कि मुझे अब अपने विवाह के सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं थी। क्योंकि मैंने अपने मन में यह निश्चय कर लिया था कि विवाह करूंगी तो डाक्टर साहब के ही साथ करूँगी, नहीं तो विष खाकर मर जाऊंगी। पर काका और अम्मां क्या सोच रहे थे? वे क्या मेरे मन की हालत से परिचित नहीं थे? यह हो नहीं सकता था। मेरी मानसिक स्थिति स्पष्ट थी। वह किसी से छिपी नहीं रह सकती थी। पर क्या वे मेरे इस प्रणय का अनुमोदन करते थे? मुझे इस सम्बन्ध में केवल अम्मां का भरोसा था, क्योंकि मैं जानती थी कि वह डाक्टर साहब को स्नेह की दृष्टि से देखती हैं। और काका चाहे डाक्टर साहब को न चाहें, पर अम्मां के और मेरे एकमत होने से वह कभी बीच में विघ्न नहीं डालेंगे, यह बात भी मैं अच्छी तरह जानती थी। क्योंकि मुझे मालूम था कि वह कभी किसी की मानसिक स्वाधीनता में दबाव डालना पसन्द नहीं करते थे। पर राजू? वह चाहे प्रत्यक्ष में इस कार्य में बाधा न डाले, पर उसका दुर्भाव मैं जीवन-भर कैसे सहन करूंगी? फिर उसी अप्रिय भावना से मेरे हृदय में जलन पैदा होने लगी और मुझे आकाश को फाड़ने और धरती को चीरने की इच्छा हुई।

१४

चित्र-लीला आरम्भ हो गई थी। अमेरिकन फ़िल्म था। डाक्टर साहब ने कहा था कि सनसनी पैदा करने वाला फ़िल्म है। पर मैं सब फ़िल्मों

को एक-सा समझती हूं। युवक-युवतियों का वही बाधाहीन स्वच्छन्द विलास, प्रेम का वही आलस्य और अफ़ीम का-सा नशा, पाश्चात्य-जीवन की वही उन्मत्त लास्य-लीला। नित्य यही सब बातें देखने में आती थीं। पर आज इस उद्दाम, चंचल प्रेम के उन्मुक्त, बंधनहीन प्रवाह में संशयहीन होकर बह जाने की उत्कट इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई। मैंने सोचा—"अगर मेरा जन्म यूरोप या अमेरिका में होता तो क्या वहां मेरा भाई कभी मेरे स्वच्छन्द प्रेम में बाधा पहुंचाता?"

तमाशा ख़तम होने पर जब हम दोनों लौट चले तो मेरा चित्त जड़ता और अवसाद से आच्छन्न हो गया था। घर पहुंचने पर मैंने डाक्टर साहब से कहा—"आज आपको यहीं रहना होगा। मुझे अकेले डर लगता है। परसों तक लीला मेरे साथ सोती थी, पर आज कोई नहीं है। आज की रात हम दोनों को जागरण में बितानी होगी। गप्पें मारते हुए बैठे रहना होगा।"

पर पिछली रात नाटक देखने में जगे रहने के कारण मेरी आंखों में नींद का बड़ा ज़ोर हो रहा था और आंखें झपती जाती थीं।

डाक्टर साहब बोले—"कल रात के जागरण से तुम्हारी आंखें लाल हो गई हैं और झप रही हैं। अगर आज रात भी जगे रहना होगा तो बड़ी आफ़त होगी।"

मैं बच्चों की तरह ज़िद करती हुई बोली—"नहीं, मुझे डर लगता है, मैं किसी तरह यहां अकेली नहीं रह सकती।"

डाक्टर साहब ने कहा—"अच्छी बात है। मुझे कोई उज्र नहीं। मैं तुम्हारे ही लिये कहता था।"

मैं चारपाई पर लेट गई और डाक्टर साहब भी मेरी ओर मुंह कर के पास वाले एक कौच पर लेट गए। प्रेम की इस मोहोत्पादक स्तब्ध रात्रि में हम दो प्रणयी उस निर्जन कमरे में, उस आलस्य-विलास-मय तंद्रावस्था में, बिना किसी बाधा या रुकावट के निर्मुक्त भाव से अवस्थित थे। पर एक प्रकार

की अनोखी धुकधुकी से क्यों मेरा हृदय आन्दोलित हो रहा था ? क्या डाक्टर साहब का भी यही हाल था ?

उस समय मैंने अपनी उस ज्यादती पर कुछ भी विचार नहीं किया। पर आज जब अपने उस दुस्साहस की बात याद आती है तो आतंक से कलेजा कांप उठता है। न जाने किस देवता की मंगलेच्छा से मैं उस रात बच गई। नहीं तो मैं जिस घोर अनर्थ की सीमा-रेखा के पास पहुंच गई थी, उसकी कल्पना भी आज नहीं कर सकती।

मैंने कहा था कि बैठे-बैठे गप्पें मारेंगे। पर गप्पें मारने की शक्ति किसी में नहीं थी। दोनों लालसा, मोह, आलस्य और तन्द्रा से आच्छन्न होने के कारण ऐसे परास्त और दुर्बल होकर पड़े हुए थे कि किसी बात की सुध नहीं थी।

इच्छा न होने पर भी लेटे-लेटे मेरी आंखें धीरे-धीरे लग गईं और मैं कुछ ही देर में घोर निद्रा में अभिभूत हो गई।

जब आंख खुली तो देखा कि डाक्टर साहब वहां नहीं हैं। हाथ में बंधी हुई घड़ी में समय देखने पर मालूम हुआ कि तीन बज चुके हैं। जाते वक्त डाक्टर साहब बाहर की तरफ़ का किवाड़ बन्द कर गए थे, पर फिर भी जाड़ा मालूम हो रहा था। डर और जाड़े से सिर से पैर तक कांपते हुए मैंने बिना कपड़े उतारे गरम कोट के ऊपर दो कंबल ओढ़ लिए और मुंह भी ढांप लिया। हाथ की घड़ी भी नहीं उतारी। कहीं कोई दुष्ट प्रेतात्मा किसी क्षुद्र छिद्र द्वारा प्रवेश करके मेरा गला न दबा बैठे, इस भय से मैंने कंबलों को चारों तरफ़ से अच्छी तरह समेटकर शरीर के नीचे दबा लिया और पांव न पसारकर ऊपर को समेट लिए। भय के कारण मेरी निद्रा-जड़ित आंखें कुछ ही देर में सचेत और जागरित हो गईं।

धीरे-धीरे जब भय कुछ कम हुआ तो अपने सम्बन्ध में नाना चिन्ताओं ने मुझे आ घेरा। मैंने सोचा—स्त्री का जीवन क्या केवल शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं में ही बीतने के लिये है ? उसका क्या और कोई उद्देश्य नहीं है ? कब तक मुझे पुरुष का सहारा मिलता रहेगा और कब तक मैं दूसरों की

सहायता के भरोसे अपना जीवन बिताऊंगी ? भगवान् ! क्यों तुमने स्त्री-जाति को इतना अशक्त, दुर्बल और सुकुमार बनाकर पैदा किया है ! "

मैं अच्छी तरह से जानती थी कि मेरा यह शारीरिक भय मेरी आत्मिक दुर्बलता का ही दूसरा स्वरूप है। यदि मेरी आत्मा में दृढ़ता, काठिन्य और सहनशीलता के भाव वर्तमान होते तो मैं किसी भी बाहरी भय से कभी भय-भीत न होती। अपने अबलापन से मन-ही-मन गर्वित होकर डाक्टर साहब की संरक्षकता का आनन्द लूटने की इच्छा कभी न करती। अकेले, शान्त और संयत भाव से, अपने भीतर की समस्त यातनाओं को नीरवता के साथ सहन करती चली जाती। पर नारी-हृदय में दृढ़ता और सहनशीलता का होना एक प्रकार से असम्भव ही है। ये ही गुण ऐसे हैं जो उसके जीवन की सार्थकता के लिये परमावश्यक हैं और इन्हीं गुणों का उसमें अभाव पाया जाता है । भाग्य-चक्र का परिहास इसी को कहते हैं !

प्राय: दो घंटे तक दुःख, शोक, अवसाद और भ्रान्ति-मिश्रित इसी प्रकार की भावनाओं में मैं निमग्न रही । फिर धीरे-धीरे मेरी आंखें झपने लगीं और मैं अचेत होकर सो गई । जब आंख खुली तो सूरज बहुत ऊपर चढ़ चुका था ।

१५

एक दिन कॉलेज में मेरी बाल्य-संगिनी और सहपाठिनी कमलिनी ने मुझसे कहा—"कल तेरे डाक्टर साहब से मेरा परिचय हो गया है। हमारे अँगरेजी के प्रोफ़ेसर साहब के साथ कल शाम अचानक वह मेरे कमरे में घुस पड़े । उस समय घर पर कोई नहीं था । मैं अंगरेजी के 'टैस्ट' की तैयारी में लगी थी । मैं तो इस 'सरप्राइज़ विजिट' से चौंक पड़ी । प्रोफ़ेसर साहब ने परिचय कराया । डाक्टर साहब बड़े मजे के आदमी जान पड़े । गज़ब की बातें करते हैं । मुझसे कहते थे कि अपने कॉलेज की सब लड़कियों से मेरा परिचय करा दो ! बाप रे बाप ! मैं तो घबरा गई । यह उस दिन के नाटक का मज़ा है । मैं तो पहले ही कहती थी !"

मेरा कलेजा धक-से रह गया । मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा और मेरे चेहरे का रंग उड़ गया । फिर भी अपने को मैंने किसी तरह संभाला और हाथ की किताब से उसे मारकर कहा—"चल हट ! ऐसी बातें मुझसे करेगी तो मुंह झुलस दूंगी । मुझे न डाक्टर साहब से मतलब है, न तुझसे ।"

वह निष्ठुरता के साथ मुस्कराती हुई बोली—"क्या सच कहती है ? तुझे डाक्टर साहब से कुछ भी मतलब नहीं है ? अच्छी बात है । देख लूंगी ।" यह कहकर वह जाने लगी ।

मेरे हृदय में ईर्ष्या की आग धधकने लगी थी और इसी आग के कारण कमलिनी से कई बातें पूछने को जी तड़फड़ा रहा था । इसलिये उसे जाते देखकर मैंने कहा—"अरी पगली, भगती कहां को है ! जरा एक बात सुनेगी भी या नहीं ?"

लौटकर उसने पूछा—"क्या बात ?"

"यही कि तू कब मरेगी ?"

"जब डाक्टर साहब के साथ मेरा ब्याह होगा ।" यह कहकर वह निर्लज्जता के साथ खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

पर उसका यह परिहास मेरे लिये असह्य था । कुछ भी हो, उसके सामने मैं अपने हृदय की तात्कालिक दुर्दशा किसी प्रकार प्रकट नहीं करना चाहती थी । इसलिये बड़े कष्ट के साथ धीरज बांधकर अपने मार्मिक दुःख को हँसी में उड़ाने का भाव दिखलाकर मैंने कहा—"पर तेरे साथ ब्याह होगा कैसे ? वह तो कॉलेज की सभी लड़कियों को अपने जादू की डोरी में एक साथ बांधने का इरादा किए बैठे हैं !"

"हां, यह बात तो जरूर है !" कहकर वह फिर एक बार खिलखिला पड़ी ।

उस दिन कॉलेज के लेकचर में मेरा जी बिलकुल नहीं लगा । जब घर आई तो मन में बड़ी बेकली समाई हुई थी । अचानक पंख छिन्न हो जाने पर जिस प्रकार आकाश में उड़ता हुआ पक्षी शून्य में कहीं कोई सहारा

न पाकर फड़फड़ाता है, उसी तरह मेरा मन भी बेचैनी के सबब छटपटाने लगा। आज कमलिनी की तरह सारा संसार मेरा परिहास कर रहा था।

प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन का साथ इधर दो-ढाई महीनों से डाक्टर साहब ने छोड़ दिया था। कम-से-कम हमारे यहां डाक्टर साहब पहले की तरह उन्हें लेकर अब नहीं आते थे। कारण मुझे मालूम नहीं था। मेरा ख़याल था कि दोनों के बीच किसी कारण से अनबन हो गई है। पर आज कमलिनी से मालूम हुआ कि प्रोफ़ेसर साहब की सहायता से डाक्टर साहब कॉलेज की सभी लड़कियों से परिचित होना चाहते हैं। यह समाचार बिलकुल अप्रत्याशित था।

दुर्बलता ! दुर्बलता ! यह सब मेरे नारी-हृदय की स्वाभाविक दुर्बलता का ही फल था ! क्या अपने हृदय को वज्र से भी कठोर और पत्थर से भी दृढ़ बनाने का कोई उपाय मेरे लिये नहीं था ? मन-ही-मन कहने लगी—"भगवान्, क्या मैं किसी भी उपाय से संसार के सब स्त्री-पुरुषों की उपेक्षा करके अकेले अपने बल पर खड़ी नहीं हो सकती ? बात-बात में संशय और भय की धुकधुकी अब किसी तरह सही नहीं जाती !" और उसके बाद मैं तकिये पर मुंह छिपाकर फफक-फफककर रोने लगी। उस दिन मैं खूब रोई—जी भर कर रोई। तब जाकर मेरा जी शान्त हुआ।

डाक्टर साहब के इंतज़ार में रहकर मैं उनके आने तक किसी तरह अपना समय बिताना चाहती थी। एक ताज़ा अख़बार हाथ में लेकर पढ़ने लगी। मेरे पास दो-तीन अख़बार रोज़ पहुंच जाते थे, पर मैं कभी जी लगाकर उन्हें नहीं पढ़ सकती थी। ऊपर हेड-लाइन देखकर जो कुछ बातें मालूम हो जाती थीं उन्हीं से सन्तुष्ट रहती थी। इधर असहयोग आन्दोलन ने बड़ा ज़ोर पकड़ रखा था। नित्य नए-नए उत्साह और नई-नई सनसनी की ख़बरें अख़बारों में छप रही थीं। पर मुझे अपने स्वप्नों और चिन्ताओं के आगे ये सब बातें अत्यन्त तुच्छ जान पड़ती थीं। काका की मित्र-मंडली में

नित्य व्यापार-सम्बन्धी विषयों के साथ ही राजनीतिक विषयों की चर्चा भी होती रहती थी। काका ने यद्यपि कभी सक्रिय रूप से राजनीति में भाग नहीं लिया था, तथापि इस विषय पर वाद-विवाद करना उन्हें पसन्द था।

अम्मां भी अत्यन्त उत्साहित होकर स्त्रियों में नई 'जागृति' उत्पन्न करने की चेष्टा में लगी थीं। पर मैं इन सब बातों के प्रति उदासीन थी। मैं अपनी ही आत्मा के तात्कालिक सुख और सन्तोष की कल्पना में मग्न थी। राजू की दृष्टि यद्यपि वर्त्तमान कोलाहल के परे जीवन और मृत्यु के किसी निगूढ़ और गम्भीर उद्देश्य की ओर लगी हुई थी, तथापि वह राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति का मौन अध्ययन बराबर करता रहता था—शायद यह जानने के लिये कि जीवन और मृत्यु के बीच का जो तार है उसे जोड़ने या तोड़ने में वह (राजनीति) कहां तक सहायक या बाधक सिद्ध होती है।

कुछ भी हो, नित्य की तरह आज भी मैं अख़बार के हेड-लाइन देखकर पन्ने उलटती गई। लोगों का ख़याल है कि अख़बारों में नित्य नई-नई ख़बरें पढ़ने को मिलती हैं। यह कैसी भयंकर भूल है, इस बात को बहुत कम लोग समझते हैं। संसार का चक्र कुछ थोड़े हेर-फेरों के साथ नित्य एक ही रूप में चलता जाता है। पर मनुष्य ऐसा अन्धा है कि वे हेर-फेर उसे नित्य नए जान पड़ते हैं। आज अमुक स्थान में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हुआ। दो-तीन दिन के बाद फिर पढ़िए। किसी दूसरे स्थान में ठीक उसी ढंग का झगड़ा दूसरे रूप में हो गया। आज अमुक नेताग्रणी ने किसी विराट् सभा में बड़े जोरदार शब्दों में कहा कि हमारे युवकों को संसार के सब काम छोड़कर देश की सेवा में लगकर स्वराज्य की प्राप्ति के लिये मर मिटना होगा। इस प्रकार की वक्तृता का महत्त्व मैं मानती हूं। पर यही बात सैकड़ों प्लेटफ़ार्मों से सैकड़ों नेता नित्य दुहराते जाते हैं और नित्य वही एक ही बात अख़बारों में पढ़ने को मिलती है। अख़बारों के कॉलम काले करके ग्राहकों को फुसलाने का मौक़ा मिल जाता है। संसार में

विपुल जीवन की जो धारा प्रतिदिन अविरल गति से प्रवाहित हो रही है उसके सभी लघु और वृहत् कर्मों से विमुख होने पर देशोद्धार का अर्थ केवल यही रह जाता है कि शहर-शहर, गांव-गांव में जाकर चन्दा वसूल करो, हैंडबिल बांटो, स्थान-स्थान पर क्रांति के प्लेकार्ड चिपकाओ, प्लेटफ़ार्मों पर खड़े होओ, कौंसिलों में घुसो, अख़बारों में जोरदार टिप्पणियां लिखो और बहुत हुआ तो जेल जाओ । ये ही सब बातें नित्य अख़बारों में पढ़ने को मिलती हैं । बहुत हुआ तो आप यह पढ़ेंगे कि रूस में क्रांति मचने के कारण ज़ार क़त्ल किया गया और कम्यूनिस्टों का अधिकार स्थापित हो गया, या जर्मनी का क़ैसर लड़ाई में हारकर भाग गया और अब शान्ति-प्रेमी दार्शनिक बन गया है । कुछ दिनों के लिये यह ख़बर नई जान पड़ती है। पर फिर शासन का वही पुराना नियम जारी हो जाता है, फिर वही क़ानून, वही जुल्म, युद्ध और प्रतिहिंसा की वही घातक प्रवृत्ति, वही अन्तरराष्ट्रीय कूटनीति !

आज भी कोई ख़बर नहीं थी । उठकर मैंने अख़बार नीचे पटक दिया और ऊपर छत पर चली गई । चार बज चुके थे । धूप बहुत मीठी जान पड़ती थी । हमारे विशाल भवन की यह छत बहुत ऊंचे पर थी । दक्षिण की ओर दृष्टि डालने पर गंगा का दृश्य यहां से स्पष्ट दिखलाई देता था । मैं इस सुन्दर दृश्य को अक्सर देखती थी । आज भी उसी ओर टकटकी बांध-कर खड़ी रही । गंगा की लघु लहरियों का शान्त, स्थिर और स्निग्ध प्रवाह देखकर मेरे चंचल और उत्तेजित हृदय में एक मीठी और शान्त उदासी व्याप्त हो गई । अकारण मेरी आंखों से आंसू उमड़ चले और हृदय की ज्वाला धीरे-धीरे बुझने लगी ।

बहुत देर तक मैं छत पर इधर-उधर टहलती रही । फिर नीचे उतरकर बगीचे में चली आई और फूलों की क्यारियों की परख करने लगी । पर वहां भी मन नहीं लगा और मैं लौटकर अपने कमरे में चली आई । सारे शरीर में थकावट मालूम होती थी, इसलिये पलंग पर लेट गई । सोने की चेष्टा करने लगी, पर नींद नहीं आती थी ।

१६

आख़िर डाक्टर साहब आ ही पहुंचे। मैं उठ बैठी और व्यंग के तौर पर मैंने नीचे झुककर धरती छूकर सलाम किया। बोली—"सैकड़ों परीज़ादियों की कृपा के पात्र बने रहने पर भी हुज़ूर इस बांदी को नहीं भूले, इसके लिये हुज़ूर का शुक्रिया अदा करती हूं।"

मेरा यह नया ढंग देखकर डाक्टर साहब दंग रह गए। अत्यन्त विस्मित होकर बोले—"यह क्या! आज यह क्या अजीब तमाशा देखता हूं!"

मैंने कहा—"डाक्टर साहब, बड़ी ख़ुशी की बात है कि आजकल दिन-दिन आपके मरीज़ों की संख्या बढ़ती जाती है। आज कितनी युवतियों की नाड़ी देखकर आप यहां पधारे हैं?"

घबराकर डाक्टर साहब बोले—"क्यों, क्यों! बात क्या है? समझाकर क्यों नहीं कहतीं?"

"वाह साहब, ख़ूब! आप इस समय तो ऐसे भलेमानस बने हैं, जैसे कुछ जानते ही नहीं।"

"तुम्हारी क़सम, मुझे कुछ नहीं मालूम।"

"सच कहते हो?"

"तुम्हें क्या विश्वास नहीं होता?"

"अच्छा सच बतलाओ, कल कमलिनी के यहां गए थे या नहीं?"

डाक्टर साहब सकपका गए। उनका चेहरा स्याह हो गया, मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। खीसें निकालकर बोले—"गया तो था। पर इसके क्या यह मानी हैं कि मैं किसी बुरी निगाह से वहां गया था? प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन मेरा हाथ पकड़कर वहां ले गए थे। अगर यह बात पहले से मालूम होती कि वहां जाना इतना बड़ा अपराध है, जितना तुम समझे बैठी हो, तो हरगिज़ न जाता।"

डाक्टर साहब अपने ग़ुस्से को ज़बरदस्ती पी रहे थे। पर उनके ग़ुस्से की परवा न कर मैं अपनी ईर्ष्या की असह्य आंच से उन्हें जलाते हुए बोली—"कमलिनी के साथ क्या तुम्हारी कोई ख़ास बात नहीं हुई ?"

उत्तर में डाक्टर साहब लापरवाही की हँसी हँसे और बोले—"मैं समझ गया हूँ, कमलिनी ने तुम्हारा वहम बढ़ाने के लिये कई बातें अपने मन से गढ़कर कही हैं। मैं इस प्रकार की बनावटी और झूठी बातों की कोई सफ़ाई नहीं देना चाहता। तुम्हारा जी चाहे तो इन बातों पर विश्वास करो, न चाहे तो न करो।"

मैंने मन में कहा—"प्रियतम, तुम अगर कृष्ण की तरह सोलह हज़ार गोपियों को भी अपने पास रक्खो, तो भी मैं तुम्हें प्यार करना नहीं छोड़ सकती। तुम्हारी बातों पर विश्वास करूं चाहे न करूं, इससे मेरे प्रेम में कोई फ़रक़ नहीं पड़ सकता। सिर्फ़ इतनी ही विनती करती हूं कि दर्शन की प्यासी इस दासी को दिन में एक बार अपना प्यारा मुखड़ा दिखला दिया करो।"

अपना सारा क्रोध भूलकर मैं फिर एक बार उनकी मीठी-मीठी, चाटुता-भरी बातें सुनने के लिये लालायित हो उठी।

मैंने कहा—"मैं सफ़ाई नहीं चाहती। इन बातों को लगे आग। पर मेरी मौत के दिन अब नज़दीक आ गए हैं। दिन-भर मेरे मन में डर बना रहता है और रात-भर मैं कांपती रहती हूँ, और नींद नहीं आती। मेरे पीछे या तो कोई भूत लग गया है या कोई ख़राब बीमारी चिपट गई है। जल्दी इसका इलाज न होगा तो मैं ज़रूर मर जाऊंगी।" मेरी आंखें भर आती थीं।

डाक्टर साहब बोले—"भूत-वूत कुछ नहीं, तुम यों ही घबरा उठी हो। तुम्हारे लिये सिर्फ़ 'नर्व-टानिक' की जरूरत है। दो दिन में तुम्हारी यह 'वीकनेस' सब ठीक हो सकती है। 'वाइब्रोना' या 'मेनोला' किसी का भी इस्तेमाल कर सकती हो। 'न्यूरेस्थीनिया' के लिये एक ऐसा टॉनिक मैं

बतला सकता हूं जो अचूक और तत्काल फलदायक होगा। पर उसका नाम सुनते ही तुम चौंक पड़ोगी, इसलिये साहस नहीं होता।"

उत्सुक होकर मैंने कहा—"अब तुम्हें बतलाना ही होगा। मेरा जी तलमलाने लगा है।"

"पोर्टवाइन! धीरे-धीरे इसका अभ्यास करने से सब क़िस्म की कमजोरियां बहुत जल्दी काफूर हो जायंगी, मैं दावे के साथ यह बात कह सकता हूं। सिर्फ़ 'सेंटीमेंट' को दबाने की ज़रूरत है।"

टॉनिक का नाम सुनकर मैं वास्तव में घबरा गई। बोली "माफ़ी चाहती हूं। मुझे किसी टॉनिक की ज़रूरत नहीं।"

डाक्टर साहब ने कहा—"मैं तो पहले ही यह बात कह चुका था। इस प्रकार के वाहियात 'सेंटीमेंटों' की वजह से ही यह देश आज दुर्बल और नपुंसक बना है। पहले हमारे देश में इन सब बातों में स्वाधीनता पाई जाती थी। आयुर्वेद में कहा गया है कि 'औषधार्थे सुरां पिबेत्'। पर आजकल सभ्य समाज में 'टेंपरेंस' का ढोंग पाया जाता है। मैं कई ऐसे लोगों को जानता हूं जो एक-एक बोतल रोज़ साफ़ कर जाते हैं, पर बाहर आकर कहते हैं कि हम तो कोई विलायती टॉनिक भी इसलिये नहीं पीते कि उसमें बीस 'पर सेंट' एलकोहल मिला रहता है। यह सब ढोंग नहीं तो क्या है! मैं तो दो-चार पेग रोज चढ़ा लिया करता हूं—फॉर हेल्थ्स सेक। मैं यह बात किसी से छिपाना नहीं चाहता।"

मुझे आज तक मालूम नहीं था कि डाक्टर साहब रसायन-विशेष का सेवन करते हैं। मेरे हृदय में इस 'रसायन' के विरुद्ध जो एक संस्कार (डाक्टर साहब जिसे सेंटीमेंट कह रहे थे) बद्धमूल था, उसपर भयंकर आघात पहुंचा। जिन सभ्य महिलाओं के समाज में हम लोगों को आना-जाना पड़ता था उसमें कुछ महिलाएं ऐसी भी थीं जो नित्य चोरी-छिपे मद्य का सेवन करती थीं। पर हमारे कुटुंब में इसका व्यवहार बिलकुल निषिद्ध था, और दवा के तौर पर भी उसका सेवन करना पतन की चरम सीमा समझी जाती थी।

मैंने कहा—"मैं समझ गई, तुम कभी मेरे रोग का ठीक-ठीक निदान नहीं कर सकते। सिर्फ़ एक धुन तुम्हारे मन में समाई हुई है। वह यह कि तुम हद दर्जे तक मेरा नैतिक पतन देखना चाहते हो। स्त्रियों की मानसिक दुर्बलता जितनी बढ़ती जाती है, पुरुषों को उतनी ही अधिक प्रसन्नता होती है। चूंकि पुरुषों में नैतिक दृढ़ता नहीं होती, इसलिये वे इस सम्बन्ध में स्त्रियों का बढ़प्पन सहन नहीं कर सकते।"

मेरी इस बात का कुछ उत्तर न देकर डाक्टर साहब मुस्कराने लगे।

१७

रात को मैंने लीला को सोने के लिये अपने ही कमरे में बुलाया। सोने के पहले लीला ने कहा—"माधवी दीदी के पति सख़्त बीमार हैं।"

मैंने आश्चर्य के साथ पूछा—"कौन माधवी दीदी ?"

"वही जिनके यहां उस दिन हम लोग गए थे। जिन्होंने भीतर का दरवाज़ा खोला था—दीनू और रामू की अम्मां। उनके पति देहरादून में नौकर हैं। वह माधवी दीदी को अपने साथ ले जाने के लिये यहां आए थे। यहां आते ही उन्हें न्यूमोनिया हो गया—डबल न्यूमोनिया। आज चार दिन हुए। आज हालत बहुत ख़राब है। डाक्टर लोग भी निराश हो गए हैं। भैया मुझे साथ लेकर आज वहां गए थे।"

इस दुःखी कुटुंब के साथ लीला ने भी अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। केवल मेरे लिये ही इस कुटुब का जीवन बिलकुल विदेशी, अपरिचित अज्ञात और विजातीय था। पर आज लीला की माधवी दीदी के पति का समाचार सुनकर मेरे हृदय के तलप्रदेश में सहानुभूति की एक तीखी वेदना उत्थित होने लगी। उस तेजस्विनी नारी की जो वह क्षणिक झलक मैंने देखी थी, वह फिर मेरे हृदय में प्रतिबिंबित होने लगी।

मैंने पूछा—"माधवी दीदी क्या रोती थीं ?"

लीला ने कहा—"रोएंगी क्यों नहीं ! भैया उन्हें दिलासा देते थे।"

असहाय, अबला नारी-जाति की जन्म-जन्मान्तर की वही प्रकृति-गत दुर्बलता ! रोओ, रोओ ! हे नारी ! तुम्हें रोने के अतिरिक्त और कोई अधिकार या बल ही ब्रह्मा ने नहीं दिया है।

लीला ने पूछा—"दीदी, विधवा को क्या सचमुच भारी दुःख होता है ? मां-बाप के मरने का दुःख क्या पति के मरने के दुःख से बड़ा नहीं होता ?"

इस अबोध बालिका को मैं यह बात कैसे समझाती जब विधवा के दुःख का मर्म मैं स्वयं नहीं समझती थी ! मुझे विधवा का दुःख केवल स्वार्थजनित जान पड़ता था। स्त्री के हृदय की असमर्थता से मैं भली भांति परिचित थी। मेरी यह धारणा थी कि स्त्री का शक्तिहीन हृदय उसके जीवन का भार ढोने में असमर्थ है, इसलिए पुरुष के ऊपर अपने जीवन का दुर्बल भार डालकर वह निश्चिन्त होकर अपना जीवन बिताती है। पर जब अचानक उसका पुरुष किसी अपरिचित कारण से अपना बोरिया-बंधना फेंककर किसी अज्ञात देश की यात्रा को चल पड़ता है तो स्त्री के लिये महासंकटमय स्थिति उपस्थित हो जाती है। वैवाहिक जीवन में वह भार वहन करने की रही-सही शक्ति और अभ्यास से भी वंचित हो जाती है, इसलिए विधवा की अवस्था और भी अधिक जटिल हो पड़ती है। वैधव्य के दुःख की इसी प्रकार की धारणा मेरे हृदय में बद्धमूल थी।

मैंने कहा—"भैना, मां-बाप के मरने पर भी घोर दुःख होता है और पति के मरने पर भी। कौन दुःख बड़ा है और कौन छोटा, यह मैं नहीं बतला सकती। भगवान से विनती करती हूं कि इन दो दुःखों में से कोई भी दुःख मुझे न सहना पड़े।"

कुछ देर तक चुप रहकर लीला अचानक बोल उठी—"अच्छा दीदी, कोई कहानी सुनाओ, पलंग के ऊपर लेटे-लेटे सुनूंगी। तुम भी अपने पलंग के ऊपर लेट जाओ।"

जो कहानियां मुझे याद थीं प्रायः उन सबको लीला सुन चुकी थी। पर फिर भी उसकी हवस पूरी नहीं होती थी। कथा-सरित-सागर की दो-तीन कहानियां

मुझे याद थीं। सभ्य-समाज में हमारे प्राचीन, हिंदू-समाज की इन सुंदर लौकिक कथाओं का प्रचलन नहीं है। पर राजू बड़ा शैतान और धूर्त लड़का था। अंगरेजी और फ्रेंच कहानियों से उकताकर वह यह अनोखी पुस्तक न मालूम कहां से एक दिन उठा लाया। मैंने भी उसे चुरा कर पढ़ा था। पर लीला के हाथ वह पुस्तक न लगी—शायद कोई नौकर उठा ले गया था। कुछ भी हो, लीला को वह कहानियां बिलकुल नयी और रोचक जान पड़ीं। दो कहानियों तक तो वह हुंकारी भरती रही, पर तीसरी कहानी के आरंभ से ही उसकी आंखें लग गईं।

एक लंबी सांस लेकर मैंने करवट बदली। अपनी प्यारी, भोली और स्नेहमयी बहन को अचेत जानकर मेरे मन में एक सकरुण, स्नेहमय, सुमधुर विषाद का भाव व्याप्त हो गया। अचानक न मालूम क्या सोचकर मैं पलंग पर से उठ बैठी और लीला के पास जाकर बड़े गौर से उसकी ओर टकटकी बांधे रही। उसके प्यारे मुख पर मूर्च्छा की तरह मनोमुग्धकर आभा प्रभासित हो रही थी। मेरी आंखों से प्रेम के आंसू उमड़ चले। मैंने बार-बार उसका मुंह चूमा, पर फिर भी जी नहीं भरता था। वह अचेत पड़ी थी। मेरे चुंबन से उसकी निद्रा में बिलकुल विघ्न नहीं पहुंचा। लीला कैशोरावस्था में पदार्पण कर चुकी थी। पर उसके स्वभाव में और मुख पर किसी प्रकार की तीव्रता या स्वप्नमय जीवन का आवेश नहीं पाया जाता था। बालकपन की वही सरलता और स्निग्ध चंचलता अभी तक उसकी प्रकृति में वर्त्तमान थी। इस कारण मैं उसे और भी अधिक प्यार करती थी। मेरी आंखें उसी के मुंह की ओर लगी थीं और हटना नहीं चाहती थीं। उसे ताकते-ताकते एक तीखी तथापि सुकुमार वेदना से मेरा हृदय रह-रहकर कांप उठता था।

मैंने सोचा—"लीला जब बड़े सुख में शान्तिपूर्वक सोई हुई है तो क्यों मेरे मन में उसके लिये करुणामय वेदना जागरित हो रही है? यही क्या संतान की मंगलाकांक्षिणी माता के हृदय का हाहाकार है? अगर ऐसा है तो कैसे मेरे स्वार्थपूर्ण, निष्ठुर हृदय में यह भाव अपने आप संचारित होने लगा है?"

प्रकृति के अज्ञान और अज्ञेय चक्र के प्रति संभ्रम के साथ मन-ही-मन प्रणाम करके मैं फिर लौटकर अपने पलंग पर आकर लेट गई।

१८

दूसरे दिन खा-पीकर जब मैं कॉलेज जाने की तैयारी कर रही थी, तो लीला रोते हुए मेरे पास आई और कहने लगी—"माधवी दीदी विधवा हो गईं।"

मेरा कलेजा-धक-से रह गया। चौंककर मैंने कहा—"ऐं! यह क्या कहती हो!"

लीला बोली—"अभी भैया को बुलाने एक आदमी आया है। मैं आज स्कूल नहीं जाऊंगी। भैया के साथ वहीं जा रही हूं।"

"राजू ने क्या मुझे बुलाया है?"

"नहीं, उन्होंने मुझसे अपने साथ चलने के लिये कहा। मैं सिर्फ़ तुम्हें ख़बर देने के लिए आई हूं।"

मैंने सोचा—"माधवी दीदी का संबंध केवल इन दो जनों के साथ है—मैं उनकी दुनिया से बिलकुल बाहर हूं और उनकी बहन कहलाए जाने के योग्य नहीं हुं। इसलिये राजू उनकी इस घोर संकटमय स्थिति में मुझे उनके पास ले जाना नहीं चाहता। जब उनसे मेरा कोई नाता ही नहीं है और केवल आधे घंटे का बाहरी परिचय है तो क्यों मैं उनके लिये दुःखित होऊं? संसार में कितनी ही स्त्रियां रात-दिन विधवा होती जाती हैं, उन सबके लिये क्या मुझे दुःख होता है? तब क्यों इस एक विशेष स्त्री के वैधव्य से मेरे हृदय में आघात पहुंचता है?"

मुझे ख़बर नहीं थी कि वह क्षण-भर का परिचय ही युग-युगांतर का परिचय था। दरिद्र घर की उस असाधारण युवती के हृदय की जिस चुंबक शक्ति ने राजू को स्नेह-पाश में दृढ़ता के साथ बांध लिया था, उसी ने क्षण-भर में मेरे हृदय पर भी अज्ञात रूप से गहरा प्रभाव डाल दिया था।

मैंने बड़े दुःख के साथ लीला से कहा—"नहीं लीला, यह नहीं हो सकता। राजू चाहे अपने साथ मुझे वहां ले चलने के लिए राजी न हो, मैं ज़बर्दस्ती उसके साथ चलूंगी। तुम दोनों की ही तरह क्या माधवी दीदी मेरी भी दीदी नहीं हैं ?"

"क्यों नहीं दीदी ! तुम भी चलो। तुम्हें कौन रोकता है ? भैया को तुम्हारे आने से बड़ी ख़ुशी होगी।"

* * *

नियत स्थान पर पहुंचकर जब हमारी मोटर रुकी तो बाहर सड़क पर से ही स्त्रियों की रोआ-पीटी और हाहाकार का रव सुनाई दिया। मैं मन-ही-मन यह कल्पना करते हुए चली कि माधवी दीदी सिर पीट-पीटकर बालों को नोचकर, धरती पर पछाड़ खाकर रो रही होंगी। भय, आतंक और संकोच से मेरे पांव आगे को नहीं बढ़ते थे। मकान के अहाते के भीतर जाकर क्या देखती हूं कि माधवी दीदी नहीं, बूढ़ी अम्मां लाश को घेर कर सिर पीटकर धाड़ें मार कर रो रही हैं। वह बीच-बीच में ऐसा विकट शब्द मुंह से निकाल रही थीं कि उस दोपहर के समय, सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में भी बड़े-बड़े धीरों के दिल उस दृश्य से संभवतः दहल उठते। माधवी दीदी की आंखें आंसुओं से भींग रही थीं, पर वह शान्तिपूर्वक अपनी अम्मां का हाथ पकड़कर उन्हें दिलासा दे रही थीं। करुण कंठ से कहती थीं—"अब रोने से क्या होगा अम्मां ? मेरा सर्वनाश होना था, सो हो गया। अब धीरज धरो। दीनू और रामू तुम्हें देखकर बहुत घबरा उठे हैं।"

वास्तव में दीनू और रामू के होश ठिकाने नहीं थे। वे दोनों नानी की ओर ताकते थे, फिर रोकर अपनी अम्मां का अंचल पकड़ते थे। फिर कुछ देर तक चुप रहकर बड़े गौर से नानी का हाल देखते थे, फिर अम्मां का अंचल पकड़कर रोने लग जाते थे और पूछते थे—"बाबू और नानी को क्या हुआ अम्मां ?"

उस घोर संकट के समय भी, जब अपने तन-बदन की सुधि का रहना भी असंभव होता है, माधवी दीदी अत्यन्त धैर्य के साथ अपने पुत्रों का मुंह चूम रही थीं और उन्हें दिलासा देती हुई कहती थीं––"रोओ मत मेरे लाल ! किसी को कुछ नहीं हुआ।" पर बच्चे नहीं मानते थे।

जब माधवी दीदी बूढ़ी अम्मां को समझाने की कोशिश करती थीं तो वह और भी ज़ोर से रोकर कहती थीं––"मैं कैसे यह दुःख सहूं, माधवी ! क्या ऐसे दुःखों को एक-एक करके मेरे ही सिर पर सवार होना था ! मैं अभागिन आज तक मर क्यों नहीं गई ! एक लड़का गया, दूसरा लड़का गया, अब आज लड़की विधवा हुई। मेरी कोख में क्या इसी तरह आग लगना था !" यह कहकर वह ज़ोर से अपनी छाती पीटने लगीं। कुछ देर तक छाती पीटकर फिर बोलीं––"माधवी, तू अभी तक जीती क्यों है ? क्या तूने भीतर कहीं ज़हर नहीं रक्खा है ? खा क्यों नहीं लेती ? मर जा बेटी, मर जा ! अब जीना महापाप है !"

माधवी दीदी के कलेजे में इन शब्द-बाणों से कैसी चोट पहुंची होगी, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है। पर इन मर्म-भेदी शब्दों को भी शान्तिपूर्वक धैर्य के साथ सहकर दीदी ने कहा––"मरने से क्या होगा, अम्मां ! अपने कर्मों का भोग तो मुझे हर हालत में भोगना होगा ! मैं मर जाऊं तो दीनू, रामू और छोटे बच्चे का क्या हाल होगा !"

पर बूढ़ी अम्मां अपने होश में नहीं थी, नहीं तो जले दिल के फफोले में नमक छिड़कने वाली ऐसी मार्मिक बातें कभी उनके मुंह से न निकलतीं। दीदी की बातें उनके कानों में गईं या नहीं, इसमें शक है। वह अपना ही रोना एक ही ढंग से रोते चली गईं।

१६

बूढ़ी अम्मां के दो पुत्र भी गुज़र चुके हैं, यह बात मालूम होने पर उनका उत्कट शोक-प्रकाश, जो पहले कुछ अशोभन जान पड़ता था, अधिक अनुचित नहीं मालूम हुआ। पर माधवी दीदी का धैर्य अत्यन्त आश्चर्यजनक,

अविश्वसनीय, अनुभवातीत था। मैं चकित और विमूढ़-सी रह गई। जब कुछ स्थिर हुई तो इधर-उधर दृष्टि फेरने लगी। एक कोने में उस दिन की वही किशोरी लड़की, जो हाथ में लालटेन लेकर हमें नीचे तक पहुंचा गई थी, अपने हाथ में माधवी दीदी का दुधमुंहा बच्चा थामकर अत्यन्त शांत और अस्पष्ट स्वर में रोती हुई नीरवता के साथ अश्रु-वर्षण कर रही थी, और बीच-बीच में अपने अंचल से आंखें पोंछती जाती थी। एक तरफ़ दो-चार आदमी अर्थी को तैयार करने में लगे थे। एक कोने में राजू की अवस्था का एक लड़का अपना उदास मुंह लेकर खड़ा था। राजू ने बड़ी फुर्ती से उसके पास जाकर उसका हाथ पकड़कर कहा—"भोला, अब इस तरह उदास और सुस्त होकर खड़े रहने से क्या फ़ायदा? अम्मां और दीदी को समझाकर दिलासा देने का काम तुम्हारा ही है। चलो।" यह कहकर वह भोला का हाथ पकड़कर बूढ़ी अम्मां के पास लाया।

पर भोला बहुत घबराया हुआ था और हौलदिल-सा जान पड़ता था। वह पहले की तरह चुपचाप खड़ा रहा। राजू ने बूढ़ी अम्मां के दोनों हाथ पकड़े और दृढ़ता के साथ कहा—"अम्मां, समझदार होने पर भी आप ना-समझों का-सा काम कर रही हैं, यह बड़े अफ़सोस की बात है! आपको चाहिए था कि धीरज रखकर दीदी को दिलासा देतीं, पर आप ख़ुद बेसुध बनी बैठी हैं। ज़रा शान्त होकर अपने नातियों को गोद में बिठाइए।"

राजू के कंठस्वर में जादू था। उसके शब्दों से उस शोकाच्छन्न जन-समाज के मुर्दे दिलों में भी चेतना पहुंची। ऐसा जान पड़ा जैसे इन सम्मोहक शब्दों से मृतक की आत्मा में भी किंचित् चैतन्य का संचार हुआ। किसी दूसरे व्यक्ति के मुंह से ये बातें ढोंग से भरी और अशोभन-सी जान पड़तीं, पर राजू के कंठ-स्वर की सहृदयता अविवादास्पद थी।

कुछ भी हो, बूढ़ी अम्मां ने रोना नहीं छोड़ा। कहने लगीं—"राजू, मुझे ज़हर देकर मार डालो, बेटा! मैं अब जीना नहीं चाहती। एक दूसरी अर्थी में ले जाकर मुझे भी चिता में जला डालो!"

राजू हैरान था। माधवी दीदी नीरव अश्रुपात कर रही थीं। लीला और मैं पुतली की तरह खड़ी थीं। इस शोक-विह्वल समाज के बीच हम दोनों बन-ठनकर, सिंगार किए हुए विराजमान थीं। लज्जा, जड़ता और आत्मग्लानि से मैं गड़ी जाती थी। इतनी शक्ति और योग्यता भी मुझमें नहीं थी कि माधवी दीदी से समवेदना की दो-चार बातें कहूं। राजू के कार्य में बाधा पहुंचाने के लिये ही हम दोनों आई थीं।

माधवी दीदी ने भग्न कंठ से मुझसे कहा—"बैठो बहन, कब तक खड़ी रहोगी!"

भगवान्! क्या स्त्री के कपोती के कलेजे से भी कोमल हृदय में ऐसी वज्र-दृढ़ता का होना संभव है! मेरी आंखों से श्रद्धा के आंसू उमड़ चले। आज अपने कपड़ों की माया त्यागकर मैं निराभरणा पृथ्वी माता के ऊपर दीदी के साथ बैठ गई और बोली—"दीदी, तुम्हारे इस घोर दुःख के समय तुम्हारे रोने में केवल बाधा पहुंचाने के लिये ही मैं आई हूं। मुझे माफ़ करो!"

मेरी इस बात से दीदी के दुःख का बांध टूट पड़ा। वह न रह सकीं और मेरे गले से लिपटकर फूट-फूटकर रोने लगीं।

अर्थी तैयार हो गई थी। राजू ने लाश के पांव पकड़े और एक दूसरे आदमी ने सिर पकड़ा। जब लाश को उठाकर अर्थी पर ले जाने लगे तो बूढ़ी अम्मां ने यथाशक्ति गला फाड़-फाड़कर चिल्लाना शुरू कर दिया और बाल-बच्चे भी चिल्लाकर रोने लगे। माधवी दीदी ने चौंककर मेरा गला छोड़ दिया और मुंह फेरकर उठ खड़ी हुईं। इस समय तक वह धीमे स्वर में रो रही थीं। अब उन्होंने भी अपना स्वर कुछ चढ़ा दिया। उनके इस स्वर में न मालूम क्या जादू भरा था, जिससे उनका रोना भी मीठा जान पड़ता था। इस समय उनका सुन्दर मुखमंडल किसी अलौकिक आभा से देदीप्यमान हो रहा था और उसमें एक विमोहक आवेश झलक रहा था। उनके संयम का बांध बिलकुल टूट गया था। अज्ञात और अपरिचित पुरुषों से भरे हुए उस समाज के बीच उनके सिर का अंचल नीचे को खिसक गया था और

उनके बिखरे हुए बालों ी नग्न बहार स्पष्ट दिखलाई देती थी। पर इस सम्बन्ध में बिलकुल उदासीनता प्रकट करके वह धीरे-धीरे शांत और संयत गमन से, अर्थी की तरफ़ आगे को बढ़ीं। तात्कालिक उत्कट दुःख की विकरालता के कारण द्विधा, संशय और लज्जा का लेश भी उनकी विशुद्ध आत्मा में वर्त्तमान नहीं था। महामाया नारी की वह मोहिनी मूर्ति देखकर संभ्रम के अतल-व्यापी भाव से मेरा हृदय पुलकित और कंटकित हो उठा।

राजू ने किसी अज्ञात आशंका से भयभीत होकर दीदी को आगे बढ़ने से रोक दिया। दीदी ने व्याकुल करुणा के स्वर में अत्यन्त अनुनय-विनय के साथ रोते हुए कहा—"राजू, मुझे जाने दे मेरे भैया, मत रोक, जाने के पहले एक बार मुझे उनके पांव छूने दे, मैं और कुछ नहीं करूंगी, सिर्फ़ पांव छूने दे! छूने दे! क्यों रोकता है!"

पत्थर को पिघला देने वाला, दीदी का वह अनुनय-वचन सुनकर राजू ने उन्हें छोड़ दिया। अर्थी के पास जाकर दीदी ने पतिदेव के पैरों के ऊपर अपना सिर रक्खा और उन्हें प्रणाम किया। कुछ देर तक वह इसी स्थिति में रहीं। फिर उठकर ऊपर किसी अज्ञात देवता के प्रति हाथ जोड़कर न मालूम क्या प्रार्थना करने लगीं। फिर लौटकर अम्मां के पास चली आईं। अम्मां पहले की ही तरह सारे आसमान को अपने सिर पर उठाए हुए थीं।

"राम नाम सत्य है" के रव से आकाश गूंज उठा और मेरे हृदय में आतंक छा गया। राजू अर्थी के साथ श्मशान को चला गया। मैं और लीला स्तब्ध होकर बैठी थीं। अर्थी के चले जाने पर हम दोनों कुछ देर तक दीदी के साथ बैठकर फिर मोटर में सवार होकर घर को वापस चली आईं।

२०

आज तक मेरा ख़याल था कि दुर्बलता ही नारी-प्रकृति का प्रधान लक्षण है। नारी के हृदय में शक्ति की कठिनता पाई जा सकती है, यह बात मेरी कल्पना के अतीत थी। आज जब माधवी दीदी का सर्वनाश हो गया तब उनके

शून्य और आशाहीन हृदय में दृढ़ता और धैर्य के अपूर्व सामंजस्य का जो अनुपम दृश्य दिखलाई दिया उसने मुझे चकित और मोहित कर दिया था। आज तक मुझे विश्वास था कि स्त्रियां तात्कालिक, प्रत्यक्ष लाभ-हानि को लेकर ही जीवन बिताती हैं। पति के द्वारा जब तक उनकी शरीर-यात्रा का निर्वाह हो सका, जब तक उनकी रक्षा हो सकी, तब तक उसे देवता मान कर पूजती हैं और जब उनका यह परम और मुख्य स्वार्थ पति द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता तो वह चाहे इस लोक में विराजमान हो या परलोक, में, उससे उनका विशेष सरोकार नहीं रहता। आज तक यही धारणा मेरे हृदय में बद्धमूल थी। पर आज मैंने देखा कि भयंकर स्वार्थ हानि होते हुए भी माधवी दीदी ने अविश्वसनीय धैर्य के साथ सब दुःख सहा और अप्रत्यक्ष में पति के मिलन की आशा नहीं छोड़ी। अपने पति के मृत शरीर को उन्होंने इस ढंग से आंतरिक प्रणाम किया जैसे वह मृत्युलोक को नहीं, कहीं परदेश को जा रहे हों। एक-न-एक बार उनके दर्शन फिर मिलेंगे ही, यह ध्रुव विश्वास उनकी म्लान और करुण आंखों से स्पष्ट झलक रहा था। रास्ते-भर मैं मन-ही-मन उन्हें निरंतर प्रणाम करती जाती थी। आज मैंने अपने जीवन में प्रथम बार एक ऐसी स्त्री को देखा जो बिना किसी पुरुष की सहायता के अकेले अपने बल पर अनन्त विश्व के असंख्य दुर्गम पथों से होकर यात्रा करने का दम भरती थी। एक गहन रहस्य का अंधकारमय पट आज मेरी आंखों से तिरोहित हो गया। भक्ति, श्रद्धा और सम्मोह के भाव से गद्गद् और आच्छन्न होकर मैं घर पहुंची।

मुझे आज अचानक रामायण पढ़ने की धुन सवार हुई। सती-साध्वी सीता के पुनीत चरित्र का रस आकंठ पान करने की इच्छा हुई। वाल्मीकीय रामायण का एक पूरा, बढ़िया 'सेट' मेरे पास वर्तमान था। उत्तरकांड उठाकर सीता-वनवास की कथा पढ़ने लगी। नारी के ऊपर पुरुष-जाति के चिर-कालिक अपमान का वर्णन पढ़कर मेरा खून खौलने लगा, और सुकुमारी, निस्सहाया, अबला सीता की विवशता देखकर क्रोध से मैं भर गई। जब निर्दयी राम सीता को अपना सतीत्व एक बार फिर से प्रमाणित करने के लिये बुलाते हैं तब इस वर्णन में नारी-निर्यातन चरम सीमा पर पहुंच जाता है। इस

घोरतम अपमान के बदले में जब सीता कहती हैं––"तदा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति" तब यह वाक्य पढ़कर मेरे रोंगटे खड़े हो गए और आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई। पुस्तक बन्द करके मैं मन-ही-मन रटने लगी––"तदा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति––तदा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।" मैं भी आज विवर के गर्भ में चिरकाल के लिये विलीन हो जाना चाहती थी।

माधवी दीदी के वैधव्य का दृश्य देखने पर और रामायण पढ़ने पर मैंने अपने हृदय में अद्‌भुत परिवर्त्तन-सा पाया और ऐसा मालूम करने लगी जैसी मेरी आत्मा में कभी कोई अपवित्र भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता। एक दिव्य प्रेरणा के प्रभाव से उत्तेजित होकर मैं अत्यन्त ऊर्द्धवाही वायु-मंडल में तरंगित होने लगी। मेरी नसों में एक अभिनव स्फूर्ति और प्रचंड शक्ति का संचार होने लगा। इस कायाकल्प से मुग्ध और आश्चर्यान्वित होकर मैं पलंग पर लेटी रही और निराली भावनाओं में डूबी रही।

दिल्ली में अखिल भारतीय व्यापारी-मंडल की बैठक होने वाली थी। काका को उसमें सम्मिलित होने के लिये आज चार बजे की गाड़ी से जाना था। अम्मां भी जा रही थीं––किसी महिला-सम्मेलन के सिलसिले में। डाक्टर साहब को यह बात कल ही से मालूम थी। इसलिये उन्हें स्टेशन पर पहुंचाने के लिये वह नियत समय पर आ पहुंचे। डाक्टर साहब की सूरत देखते ही मेरा कलेजा फड़क उठा और हृदय की स्थिति बिलकुल उलट-पुलट हो गई। कहां गई माधवी दीदी की चिन्ता और कहां गया सतीत्व के आदर्श का पुनीत विषाद! पलक-भर के भीतर ही मैं अपने रात-दिन के आमोद-प्रमोद की दुनिया में आ गई। डाक्टर साहब का कंट-स्वर सुनकर मेरा हृदय ठीक ताल में नाचने लगा।

२१

काका और अम्मां को पहुंचाने के लिये लीला, मैं और डाक्टर साहब भी उनके साथ चले। जब डाकगाड़ी छूट गई तो हम तीनों वापस चले आये। दिन ढलने लगा था, सूर्य छिपने को ही था। हेमंत-काल की संध्या एक तो

वैसे ही विषाद-भरी होती है, तिसपर आज माधवी दीदी विधवा हो गई थीं, राजू श्मशान को गया हुआ था और काका और अम्मां भी घर को सूना करके चल दिए थे। घर पहुंचने पर मेरे मन में ऐसी उदासी छा गई कि बोलने की भी शक्ति नहीं रही। केवल डाक्टर साहब मुझे उल्लसित करने में समर्थ थे। पर आज वह भी किसी कारण से उमंगहीन जान पड़ते थे। शायद लीला के हमारे साथ होने से उनकी स्वच्छन्द बातों में विघ्न हो रहा था।

कुछ भी हो, मेरी उदासी का सब से बड़ा कारण था—काका की बिदाई। अम्मां के बिना मैं बड़ी ख़ुशी से रह सकती थी। पर काका का बिछोह मेरे लिये असह्य था। और आज तो उनके बिछोह का दुःख सब दिनों से अधिक तीक्ष्ण मालूम हो रहा था। काका को मैं बहुत प्यार करती थी, यह बात मैं जानती थी। पर इतना अधिक प्यार करती हूं, यह बात आज प्रथम बार मुझे मालूम हुई।

इसके अतिरिक्त मैं आज एक नयी और अनोखी वेदना का अनुभव कर रही थी। इस वेदना का सम्बन्ध राजू से था। मेरे मन में यह भावना रह-रहकर जागरित हो रही थी कि मेरा भाई राजू, जो पहले मुझे अपने प्राणों से भी अधिक चाहता था और अब उपेक्षा (संभवतः घृणा) की दृष्टि से देखता है, एक दुःखी घर के दुःख का साझी होकर श्मशान को गया है—मेरा प्यारा भाई इतनी छोटी अवस्था में आमोद-प्रमोद से रहित होकर गंभीर-भावनाओं में निमग्न रहकर, असंख्य मनुष्यों से पूर्ण इस संसार में निःसंग जीवन बिता कर स्वेच्छा से दुःख और कर्तव्य के गहन कंटकमय पथ में भ्रमण कर रहा है। इस भावना से मेरे मन में एक तरफ़ तो गर्व, करुणा और स्नेह का उद्रेक हो रहा था और दूसरी तरफ़ प्रतिहिंसा और मान के भाव से मेरी छाती फूल उठती थी। एक बार मैं सोचती—"क्या मैं सचमुच राजू की उपेक्षा और घृणा के योग्य हूं? क्या मैं इतनी हीन हूं? क्यों वह मेरा स्नेह स्वीकार नहीं करना चाहता?" और यह सोचते-सोचते मैं क्रोध से कांपने लगती और रोना चाहती। पर फिर उसी दम मेरे मन में यह विचार उत्पन्न होता कि मैं

वास्तव में नीच और घृणित हूं और राजू की बहन कहलाने योग्य नहीं हूं। अपनी मानसिक वृत्ति की हीनता की कल्पना करके अवसाद और क्लान्ति के भार से मेरा हृदय दब जाता था।

भीतर आकर जब हम लोग बैठ गए तो मैंने कहा—"डाक्टर साहब, आज मेरे मन में बड़ी उदासी छा गई है। एक स्त्री को मैं आज अपनी आंखों के सामने विधवा होते देख आई।"

डाक्टर साहब बोले—"यह कोई असाधारण बात नहीं है!"

मैंने कहा—"पर वह युवती थी।"

"बाल-वैधव्य नहीं भोगना पड़ा, यही ग़नीमत है।"

"आपका कलेजा वज्र से भी कठोर है।"

डाक्टर साहब मुस्कराने लगे। बोले—"संसार में रात-दिन असंख्य स्त्रियां विधवा होती जाती हैं, किस-किस के लिये रोया जाय! इस प्रकार की भावुकता केवल प्राणों की दुर्बलता की ही द्योतक है।"

माधवी दीदी से डाक्टर साहब परिचित नहीं थे, नहीं तो कैसे उसकी उपेक्षा करते, ज़रा मैं भी देख लेती।

मैंने कहा—"भगवान से प्रार्थना करती हूं कि निर्मोही आदमी से दुश्मन का भी पाला न पड़े।"

डाक्टर साहब ठठाकर हँस पड़े। बोले—"निर्मोही किसे बतलाती हो? मैं क्या निर्मोही हूं?"

मैंने बच्चों की तरह मुंह बनाया।

लीला ने कहा—"अच्छा डाक्टर साहब, अगर आप निर्मोही नहीं हैं, तो मेरी एक प्रार्थना पर ध्यान दीजिए।"

डाक्टर साहब ने पूछा—"क्या प्रार्थना है?"

लीला ने कहा—"आप अपने जमाने के मेडिकल कॉलेज के लड़कों के कई क़िस्से सुनाया करते हैं। आज भी कोई दिलचस्प क़िस्सा सुनाइए जिससे वक्त कटे और उदासी न रहे।"

डाक्टर साहब ने एक क़िस्सा शुरू किया। उनका सहपाठी एक लड़का 'टी. बी. स्पेशलिस्ट' होना चाहता था। इस रोग-विशेष के सम्बन्ध में पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त करने की धुन उसके सिर पर बड़ी बुरी तरह से सवार हो गई। उसके आचार्य के पास जो-जो 'केस' आते थे वह मनन-पूर्वक उनका अध्ययन किया करता था। इस रोग के कीटाणुओं को अच्छी तरह से पहचानने के लिये वह नित्य अणुवीक्षण यंत्र द्वारा बड़े ध्यान के साथ रोगियों के श्लेष्मा और रक्त की परीक्षा किया करता था। होस्टल में उसके साथी जितने भी लड़के थे वह सब समय मौक़ा पाते ही उनके सारे शरीर में हाथ लगाकर 'टी. बी. ग्लैण्ड' की खोज किया करता था। इस रोग के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का अध्ययन करने पर और अनेक 'केस' देखने पर उसे धीरे-धीरे अपने सम्बन्ध में भी वहम हो गया और वह रोज़ अपना 'टेंपरेचर' लेने लगा और नित्य अपनी नाड़ी की गति की परीक्षा करने लगा। कीटाणुओं के भय से पानी अपने सामने 'फ़िल्टर' कराके पीता था। रोटी, मक्खन, अंडा और दूध के अतिरिक्त और सब प्रकार का खाना उसने त्याग दिया। बहुत हुआ तो कुछ फल खा लेता था। भगवान का ऐसा कोप हुआ कि उसका टेंपरेचर किसी कारण से बढ़ गया। तब तो वह ऐसा घबराया कि तत्काल अपने आचार्य के पास जाकर उसने अपने शरीर की परीक्षा करवाई। आचार्य के यह कहने पर भी कि उसे यक्ष्मा नहीं है, उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने अपने श्लेष्मा की परीक्षा स्वयं की। उसमें उसे 'कीटाणु' दिखलाई दिए! कालेज से छुट्टी लेकर वह घर गया और 'कंप्लीट रेस्ट' करने लगा। चौबीसों घंटे वह चारपाई पर लेटा रहता और बिलकुल हिलता-डुलता न था। मौत को बुलाने पर वह तत्काल उपस्थित होती है, यह बात प्राचीन दंतकथाओं में पाई जाती है। उसका भी यही हाल हुआ। धीरे-धीरे वह क्षयीभूत होने लगा और उसका शरीर क्षीण होता चला गया। अंत को छः महीने के अन्दर काम तमाम!"

२२

यह क़िस्सा डाक्टर लोगों के लिये भले ही दिलचस्प हो, पर विषाद और विरह-व्यथा से म्लान आज की संध्या में मृत्यु की भीति से पूर्ण इस कथा से मेरा सुकुमार और दुर्बल हृदय त्रस्त कपोत की तरह कंपित होने लगा। लीला का भी शायद यही हाल था। उसने कहा—"यही क्या आपका दिलचस्प क़िस्सा है ? डाक्टर लोगों को मरने की बातों में बड़ा आनन्द मिलता है। आप लोगों का दिल बड़ा सख्त होता है, इसमें संदेह नहीं। अपने सहपाठी की मौत का समाचार पाकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई होगी !" यह कहकर वह चलने लगी

मैंने कहा—"लीला, बैठती क्यों नहीं। अरी, जाती कहां को है ?"

वह बोली—"तुमने जो 'नाविल' मुझे उस रोज दिया था, उसे अभी मैंने पूरा नहीं किया। जाकर उसी को पढ़ती हूं।"

यह कहकर वह चली गई।

बाहर अभी थोड़ा-बहुत उजाला था, पर भीतर अंधेरा होने लगा था। डाक्टर साहब और मैं उस कमरे में अकेले थे। नाना दुश्चिंताओं के कारण मेरा मस्तिष्क ठिकाने नहीं था। संध्याकाल की इस विशेष घड़ी में ही कोई अलौकिक माया वर्त्तमान रहती है या मेरी ही मानसिक अवस्था उस समय विकृत हो गई थी, मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकती। पर एक प्रकार की अभूतपूर्व चंचलता से मेरा हृदय आन्दोलित होने लगा। दिन-भर के विषाद से इस चंचलता का कोई सम्बन्ध नहीं था। मैं सुख-दुःख और जीवन-मृत्यु के अतीत आनन्द की एक अनिर्वचनीय चेतना का अनुभव करने लगी। ऐसा मालूम करने लगी जैसे इस मायामय स्वल्पांधकार की हलकी छाया में मैं डाक्टर साहब के साथ बेमालूम अन्तर्धान होकर सौंदर्य और प्रेम के किसी अभिनव लोक में निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर विचर सकती हूं और इसी में ही मेरे छिन्न-विच्छिन्न, भ्रष्ट जीवन की सार्थकता है। कोई अज्ञात प्रेरणा

मेरे कानों में कहने लगी—"जीवन के रात-दिन के झंझट और भय-संशय से मुक्त होने का केवल यही क्षणिक समय है; यदि किसी नव-जीवन की आशा में मरना है तो इसी समय मरो, अथवा चिरांधकार के गहन गह्वर में सदा के लिये विलीन होना है तो इसी समय होओ—यदि यह समय गया तो जन्मान्तर में भी दुश्चिन्ताओं से तुम्हारा पिंड कभी नहीं छूटेगा!"

मेरा सर्वांग कंपित हो रहा था और बत्ती का बटन दबाने का साहस नहीं होता था। कमरे के अंधकार को भेदकर सांध्य वातावरण के अस्पष्ट और अस्फुट प्रकाश की स्तिमित रेखाएं हम दोनों के मुखों पर छाया की माया का खेल खेल रही थीं। हम दोनों स्तब्ध और निःशब्द थे। अकस्मात् डाक्टर साहब के पैरों ने मेरे पांवों को स्पर्श किया। मेरे सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गई। मेरे रक्त में उन्मत्तता व्याप्त हो गई। मैंने अपने को संभालने की चेष्टा की। क्षण-भर में सहस्र भावनाएं मेरे मस्तिष्क से हो कर गुज़र गईं।

अचानक मुझे अपने शांत, उत्तेजना-विहीन बाल्य-जीवन की याद आई। उस मधुर और प्यारी स्मृति से मेरे रक्त का उत्ताप धीरे-धीरे शीतल होने लगा, और उस शीतलता की करुणा से मेरा हृदय गद्‌गद हो आया। इतने अल्प समय में मेरे हृदयाकाश में एक भयंकर तूफ़ान उठकर अंत को शान्ति के साथ गंभीर मेघों का श्रांत वर्षण भी हो गया। किसी अज्ञात कारण से मेरे स्मृति-पटल में मेरे जीवन के एक ऐसे दिन का चित्र अंकित हुआ जब खूब ज़ोर से पानी बरसने के बाद पूर्वाकाश इन्द्रधनुष की मनोहर छटा से विभासित हो गया था, पत्तों के झुरमुटों से होकर जलकण सूर्य के प्रकाश में मोतियों की तरह नीचे को टपकते जाते थे और मैं अपने भावी जीवन के उल्लास में बाहर बगीचे में बिना किसी कारण के इधर-उधर दौड़ रही थी। आज की मानसिक स्थिति से इस घटना का क्या सम्बन्ध था, ठीक बतला नहीं सकती। पर इस स्मृति के उदित होते ही मेरी आंखें उमड़ चलीं। उस अस्पष्ट आलोक में भी शायद डाक्टर साहब ने मेरे आंसुओं को झलकते देख लिया। मेरा हाथ पकड़कर बोले—"लज्जा!"

पुलकित होने के कारण मेरा गला रुंध गया था। बोलने से मेरी कमज़ोरी पकड़ी जायगी, इस ख़याल से मैं चुप रही।

मैं अपने पलंग पर बैठी हुई थी। डाक्टर साहब मुझे निरुत्तर देखकर या अन्य किसी कारण से चट अपनी कुर्सी पर से उठकर मेरे साथ ही मेरे पलंग पर बैठ गए और धीमे स्वर में बोले—"चुप क्यों हो ?"

मैं रह न सकी और उनकी गोद में मुंह छिपाकर सिसक-सिसककर बे-अख़्तियार रोने लगी। कुछ देर के बाद जब मेरा सिसकना बन्द हो गया तो मैं फिर भी उसी मोहमग्न अवस्था में उनकी गोद के ऊपर अपना सिर रक्खे रही। विवश अलसता के कारण उस स्थिति से हिलने-डुलने की शक्ति भी मुझमें नहीं थी।

अचानक बाहर से चिर-परिचित कंठ स्वर वायुमंडल को तीर के समान चीरता हुआ मेरे कानों में पहुंचा—"दीदी !"

इस शब्द से मेरा हृदय धड़ाके की तरह गूंजते ही राजू दरवाज़े पर आकर खड़ा हो गया। मैं हड़बड़ाती हुई संभलकर उठ बैठी। एक झलक देखकर राजू उलटे पांव लौट चला।

२३

कलेजे का धड़कना, शरीर का थरथराना, धरती में समा जाने की इच्छा रखना, आदि कई ऐसे प्रचलित और नपे-तुले मुहावरे हैं जिनका उपयोग मैं अपनी उक्त स्थिति का वर्णन करने में कर सकती हूं। पर क्या इन मुहावरों से सचमुच पाठक उस घोर अनर्थ का, इस चिर-दुर्भागिनी के जीवन के उस जटिलतम संकट से संकुल स्थिति का यथार्थ अनुभव करने में समर्थ हो सकेंगे ?

ज़रा एक बार चित्तवृत्ति को एकाग्र करके कल्पना कीजिए। मान लीजिए आप एक नवयुवती हैं। आप न चाहने पर भी किसी पर-पुरुष के प्रणय-पाश में आबद्ध हैं। आप से छोटा आपका एक भाई है जिसकी असहनशील प्रकृति

के कारण अप्रसन्न होने पर भी आप उसे प्यार किए बिना नहीं रह सकते। उसके उन्नत स्वभाव के गांभीर्य के कारण आपके हृदय में उसके प्रति संभ्रम का भाव भी वर्त्तमान है। पर जिस पुरुष से आपका प्रेम है उसे आपका यह भाई किसी विशेष कारण से अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखता है, और फलतः वह नहीं चाहता कि उसकी बहन ऐसे पुरुष को चाहे। पर बार-बार वह आपको उसी घृणित और अनिच्छित पुरुष के साथ देखता है, और इसी कारण भाई-बहन के चिर-जीवन के गाढ़े स्नेह में विघ्न आ उपस्थित होता है। अंत को एक दिन संध्या के प्रायांधकार में आपका वही भाई आपको एक स्तब्ध कमरे के भीतर उसी पुरुष की गोद में मुंह-छिपाए हुए पाता है और एक झलक देखकर लौट जाता है।

किसी ग्रीक उपाख्यान में मैंने पढ़ा था कि गॉर्गन का मुख देखते ही दर्शक तत्काल प्रस्तर बन जाता था। राजू का पलक-पात अंधकार के कारण अस्पष्ट होने पर भी उससे मैं पत्थर से भी अधिक जड़, मृत और निर्जीव बन गई। वज्र-स्तंभित-सी होकर कुछ देर तक बिलकुल संज्ञाशून्य बैठी रही। जब कुछ चैतन्य हुआ तो मुझे जैसे एक विचित्र उन्माद ने आ घेरा। मैं ज़ोर से चिल्लाना चाहती थी और अपने बालों को नोचने की इच्छा होती थी। कुछ ही देर पहले डाक्टर साहब के स्पर्श से मैं रोमांचित हो रही थी। अब उनके शरीर को छूकर बहने वाली वायु के भी स्पर्श से और उनके निःश्वास से उत्कट वितृष्णा और नारकीय घृणा के कारण मेरा हृदय मथित होने लगा। डाक्टर साहब अभी तक मेरे पलंग पर ही बैठे थे। मैंने धीमे स्वर में तीव्रता के साथ कहा—"डाक्टर साहब, आप जाइए। मेरा सर्वनाश होना था सो हो गया। अब आप जाइए!" उस अंधकार में शायद मेरी आंखों की चिनगारियां साफ़ दिखलाई दे रही थीं। भीत होकर डाक्टर साहब ने पूछा—"क्यों?"

उन्हें यह घटना बिलकुल साधारण जान पड़ती थी। हाय री पुरुषों की निर्बोधिता! मैंने तमककर कहा—"नहीं, नहीं, आप फ़ौरन यहां से उठकर चले जाइए!" यह कहकर मैंने बत्ती का बटन दबा दिया। सारा कमरा प्रकाश से जगमगाने लगा।

क्रोधित और अपमानित होकर वह चट-से अपनी साहबी टोपी और बेंत की छड़ी पकड़कर उठ खड़े हुए और लाल-लाल आंखों से एक बार मुझे घूरकर सीधे चल दिए। अपमानित प्रेम की प्रतिहिंसा का भाव उनकी उत्तप्त आंखों में स्पष्ट झलकते हुए दिखलाई दिया था। पर इस बात पर विशेष ध्यान देने की स्थिति उस समय मेरी नहीं थी। आज दिन के समय रामायण पढ़ी थी। मुझे बार-बार वही पद याद आता था—"तदा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।"

२४

रात को खाना खाने की रुचि बिलकुल नहीं थी। पर न खाने से नौकर-चाकरों के मन में सन्देह उत्पन्न होगा और हठ तथा अनुरोध का अभिनय सहन करना पड़ेगा, इस कारण मैंने अपने ही कमरे में खाना लाने का 'आर्डर' दे दिया। थोड़ा-बहुत खाकर लेटने की तैयारी कर ही रही थी कि लीला ने किवाड़ खटखटाते हुए कहा—"दीदी, खोलो!"

मैं नित्य लीला से अपने साथ सोने का अनुरोध किया करती थी। पर आज उसके आने से मुझे बिलकुल प्रसन्नता नहीं हुई—मेरी एकान्त-चिन्ता में विघ्न ही हुआ। लीला नित्य की तरह प्रसन्न, निश्चित और निधड़क थी। बोली—"दीदी, आज बड़ी जल्दी सोने की तैयारी करने लगी हो!"

मैंने मुरझाई हुई आवाज में कहा—"हां, आज नींद ने बड़ा ज़ोर पकड़ा है।"

लीला नित्य की तरह हँसी-खुशी की बातें करने के लिये लालायित हो रही थी, मेरी इस बात से उसका मुख म्लान हो आया। मन मारकर वह अपने पलंग पर जाकर लेट गई।

मेरे मस्तिष्क की नसें बहुत उत्तेजित हो रही थीं। कितनी ही बातें सोचना चाहती थी, पर कुछ भी ठीक तरह से नहीं सोच सकती थी। फिर भी एक बात रह-रहकर मेरे हृदय और मस्तिष्क में एक साथ ही कांटे की

तरह चुभ रही थी। वह यह कि मैं कल से राजू को अपना मुंह कैसे दिखाऊंगी ? डाक्टर साहब के साथ अकेले बैठे मुझे राजू ने बहुत बार देख लिया था, इसमें सन्देह नहीं। पर आज की बात ही बिलकुल दूसरी थी। आज मैं अपनी सफ़ाई में किसी प्रकार की कैफ़ियत नहीं दे सकती थी। मैंने सोचा—"राजू के हृदय में यदि किसी जघन्य से भी जघन्य बात का संशय उत्पन्न हो तो मैं उसके निवारण के लिये एक अक्षर भी किस मुंह से निकाल सकती हूं ? यद्यपि भगवान की कृपा से मैं अब तक शारीरिक पाप से बची हूँ, तो भी आज की स्थिति के कारण कैसे राजू को इस बात का विश्वास दिला सकती हूं ? भगवान् ! मेरे लिये कोई भी उपाय तुमने नहीं रख छोड़ा !" सोचते-सोचते मैं प्रबल वेदना से छटपटाने लगी और उत्कट मानसिक व्यथा के कारण मेरे मुंह से बेअख्तियार कराहने की तीखी आवाज़ निकल पड़ी।

आवाज़ सुनकर लीला चौंककर उठ बैठी और उसने घबराकर पूछा—"दीदी, क्या हुआ ?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं हुआ भैना, तू सो जा। चिन्ता की कोई बात नहीं।"

पर वह बहुत डरी हुई थी, इसलिये कुछ देर तक बैठी रही। वह शायद चाहती थी कि मैं उसके साथ बातें करूं। पर मैं चुप रही। लाचार होकर वह फिर लेट गई।

मुझे बहुत देर तक नींद नहीं आई। दो बजे तक गिर्जे की घड़ी में घंटों के बजने का शब्द सुनती रही। दो बजे के बाद आंखें लगीं। आंखें लगते ही कितने ही अर्थहीन, अस्पष्ट और भयंकर स्वप्नों से मेरा मस्तिष्क आच्छन्न हो गया। उन अस्पष्ट स्वप्नों के बीच भी एक स्पष्ट अर्द्ध-वाक्य मेरे मुंह से निकलता जाता था—"विवरं दातुमर्हति—विवरं दातुमर्हति !" थोड़ी देर बाद नींद उचट गई। फिर आंखें लगीं और फिर उसी प्रकार के विकट स्वप्न दिखाई देने लगे। फिर आंखें खुलीं, फिर आंखें लगीं। सारी रात इसी तरह की बेचैनी में कटी। पर सुबह को बड़ी मीठी और गाढ़ी नींद ने मुझे धर दबाया। नौ बजे के करीब आंखें खुलीं।

२५

बाह्य जगत् के अंधकार और प्रकाश का अंतर्जगत् से बड़ा भारी सम्बन्ध रहता है। विगत रात्रि के अंधकार में मुझे अपनी स्थिति अत्यन्त जटिल और बिकट मालूम होती थी, पर प्रातःकाल के उज्ज्वल प्रकाश में मुझे आशातीत सांत्वना प्राप्त हुई। मैंने सोचा—"कल रात की घटना उस क्षण के लिये चाहे कैसी ही भयंकर क्यों न हो, पर वास्तव में उसके कारण अधिक चिंतित होने की कोई बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि राजू के हृदय में उस समय बड़ी गहरी चोट पहुंची होगी, पर अभ्यासवश वह धीरे-धीरे उस बात को भूल जायगा। कितनी ही बार उसने मुझे डाक्टर साहब के साथ अकेले बैठे देखा है, और जितनी बार देखा है उतनी बार वह नाराज़ हुआ है; पर फिर-फिर इस बात को भूलकर वह 'दीदी' कहकर पुकारता हुआ मेरे पास आया है। मेरा ऐसा उदार और बुद्धिमान भाई अबकी बार भी दो-एक दिन में कल की बात भूल जायगा और मन-ही-मन मुझे क्षमा करके मेरे पास अपना स्नेह से भरा हुआ प्यारा मुखड़ा लेकर चला आयगा।"

आशा से भरी यह बात सोच-सोचकर मैं उल्लसित हो उठी और मेरी सारी दुश्चिन्ता किसी जादू के स्पर्श से तिरोहित हो गई।

प्रातर्भोजन मैंने अपने ही कमरे में किया। लीला ने शायद राजू के ही साथ खाना खाया। खाना खाकर लीला स्कूल को चली गई। तबीअत ठीक न होने से मैं घर पर ही रही। एक किताब खोलकर पढ़ने लगी। दो-चार पेज भी न पढ़ पाई थी कि आंखें झपने लगीं। किताब बन्द करके पलंग पर लेट गई। तत्काल प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हो गई। प्रायः एक घंटे के बाद आंखें खुलीं। पर सारे शरीर में ऐसी थकावट जान पड़ती थी जैसे किसी ने मार-मारकर मेरी हड्डियां तोड़ डाली हों। आलस्य, दुर्बलता और जड़ता के कारण उठने की शक्ति मुझमें नहीं थी। इसलिये लेटी रही। फिर नींद आ गई।

अबकी बार जब आंखें खुलीं तो दिन ढल चुका था। गत रात्रि में जिस भीषण भीति का अनुभव मैंने किया था, वह अब फिर धीरे-धीरे जागरित

होने लगी। प्रातःकाल मैंने समझा था कि मेरा भय अमूलक और व्यर्थ है। पर मलेरिया बुख़ार जिस प्रकार बीच में टूटकर फिर-फिर नियत समय पर धर दबाता है उसी प्रकार अंधकार के धीरे-धीरे बढ़ते ही पिछले दिन की आशंका उदित होने लगी। मैंने सोचा—"कल संध्या के समय जो घटना हो गई है, वह किसी प्रकार भी साधारण नहीं थी। राजू के साथ मेरा जो विच्छेद हो गया है वह अब जीवन-भर स्थायी रहेगा। राजू अब कभी मेरा मुंह देखना नहीं चाहेगा। वह अब किसी तरह मनाया नहीं जा सकता। इस घटना से मेरा जीवन कलंकित, लांछित और निरर्थक हो गया है।"

ऐसी स्थिति में स्त्रियों में बहुधा आत्मघात की प्रवृत्ति जागरित होती है। पर मेरे हृदय में मरने की इच्छा लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं होती थी। मरने की इच्छा तो दूर रही, मृत्यु की कल्पना ही किसी भी रूप में मेरे मन में जागरित नहीं हुई। पर मेरा भावी जीवन निरानन्दमय है, इस विश्वास के कारण मुझे शून्य के अवसाद ने आ घेरा। काका और अम्मां घर पर नहीं थे, डाक्टर साहब के साथ अनबन हो गई थी और राजू की आंखों का तो मैं कांटा ही बन चुकी थी। अपने जले दिल के फफोले मैं किसके आगे फोड़ती! मेरी उस दशा का केवल अनुभव ही किया जा सकता है, वह समझाई नहीं जा सकती।

डाक्टर साहब आज नहीं आवेंगे, यह बात मैं अच्छी तरह जानती थी, पर एक क्षीण आशा भी मेरे मन में वर्त्तमान थी। प्रतीक्षा करते-करते अंधेरा हो आया और खाने का समय आ गया। पर उनका आना असंभव था और वह आए भी नहीं। भयंकर निराशा छा गई। यदि वह सचमुच आ गए होते तो मुझे प्रसन्नता होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बल्कि संभव तो यही था कि उनके आने पर मैं अधिक सशंकित हो उठती। पर फिर भी उनके न आने से निराशा ही हुई।

रात को फिर नींद का वही हाल रहा और बीच-बीच में तंद्रा आने पर उसी प्रकार के विकट स्वप्न दिखलाई दिए।

दूसरे दिन सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में मैं फिर आशान्वित हो उठी और पहले दिन की तरह, रात की सारी दुश्चिन्ता दूर हो गई। केवल एक बात के लिये मैं बहुत पछताने लगी। वह यह कि क्षणिक उत्तेजना के कारण बुद्धिभ्रष्ट होने पर मैंने डाक्टर साहब को अपमानित करके निकाल दिया था। जिनको लेकर ही मेरा जीवन था, उन्हीं के साथ मेरा सम्बन्ध टूट गया। मैंने सोचा—"राजू तो मेरा ही भाई है—कभी-न-कभी उसके साथ समझौता होगा ही। पर तिरस्कृत प्रेमी को अब किस प्रकार मना सकती हूँ ?" पश्चात्ताप का यह कांटा मेरे मन में गड़ा ही रहा।

दिन-भर मेरी भावनाओं में उलट-फेर होता रहा। कभी एक बात सोचती थी, कभी ठीक उसका उलटा। अंधेरा होते ही फिर मेरा हृदय आशंका के कारण दहलने लगा। इसी प्रकार के चक्र में चार दिन बीत गए। न राजू के ही भाव में कोई परिवर्त्तन दिखाई दिया और न डाक्टर साहब के ही दर्शन हुए।

२६

पांचवें दिन काका अम्मां के साथ वापस चले आए। मेरी जान में जान आई और चित्त कुछ स्थिर हुआ। उनके घर पहुंचते ही मैं व्यापार-सम्मेलन से सम्बन्धित सब समाचार पूछने लगी। क्या-क्या प्रस्ताव पास हुए, विदेशी-बहिष्कार की समस्या का समाधान किस प्रकार किया गया, स्वदेशी-व्यापार पर इस बात का क्या असर पड़ा है, इत्यादि और भी कई प्रश्न मैंने किए। काका ने अत्यन्त स्नेह और धैर्य के साथ मुझे सब बातें समझाईं। इन सब बातों को जानने के लिये मैं बड़ी उत्सुक थी, सो नहीं। पर चार दिन के विच्छेद के बाद आज काका को पाकर उनसे बातें करने के लिये मैं आकुल हो रही थी।

जब सम्मेलन-सम्बन्धी सब बातें हो चुकीं तो काका ने पूछा—"राजू कहां है ? वह नहीं दिखाई देता।"

लीला वहीं पर थी। उसने कहा—"भैया की तबीअत आज तीन-चार दिन से ख़राब है। मैं कितनी ही बार उनके पास गई हूं, पर वह कोई बात मेरे साथ नहीं करते। पलंग पर लेटे-लेटे उपनिषद् या इसी तरह की कोई किताब पढ़ते हैं और मुझसे कह देते हैं कि मेरी तबीअत ठीक नहीं है। क्या हुआ, बुख़ार है या नहीं यह कुछ नहीं बतलाते।"

काका ने शंकित होकर मुझसे पूछा—"क्या हुआ, तुम्हें कुछ मालूम है ?"

मैं क्या जवाब देती ! राजू पलंग पर लेटे-लेटे अपनी तबीअत ख़राब बतलाता है, यह बात भी मुझे मालूम नहीं थी। और जो एक कारण मुझे मालूम था उसे म बतलाती कैसे !

मैंने कहा—"मुझे तो कुछ भी ख़बर नहीं।"

काका के चेहरे में उनके स्वाभाविक व्यंग का तीक्ष्ण भाव प्रस्फुटित हो उठा। बोले—"भाई के लिये बहन का प्रेम हो तो ऐसा हो। तीन दिन से वह पलंग पर लेटा है, और तुम्हें अब तक ख़बर नहीं कि क्या हुआ ! ख़ूब !"

उनकी आंखों में स्नेहपूर्ण तिरस्कार की छाया घनीभूत होने लगी। मैं उनकी ओर ताक न सकी और गुरुतर अपराध के भार से दबकर मैंने सिर नीचा कर लिया।

उसी दम उठकर काका राजू का हाल मालूम करने चले। अम्मां और लीला भी उनके साथ हो लीं। मैं पीछे-पीछे दबे पांव अपराधिनी की तरह धड़कता हुआ कलेजा लेकर चलने लगी। राजू के कमरे में जब हम लोग पहुंचे तो देखा कि कमरा ख़ाली पड़ा है। राजू वहां नहीं था।

लीला ने कहा—"कुछ ही देर पहले तो भैया यहीं थे। अभी-अभी न मालूम कहां चले गए !"

सबको आश्चर्य हुआ। नौकरों ने घर-भर ढूंढ़ा, ऊपर छत पर जाकर देखा, बगीचे में तलाश की, पर कहीं पता न चला। कोई मोटर या

फिटन भी वह साथ में नहीं ले गया था। काका के आने का समाचार सुन-कर ही क्या वह कहीं चंपत हो गया था ? काका और अम्मां का आगमन क्या उसे सचमुच इतना अखरा ? यह आश्चर्य की ही बात थी, इसमें सन्देह नहीं।

हम लोग सब चकित होकर लौट चले। पर काका को शायद यह जान कर तसल्ली हुई कि राजू पलंग पर लेटे रहने को बाध्य नहीं है। आनन्दपूर्वक हँसकर बोले—"तबीअत के ख़राब होने का यह ढंग बिलकुल नया है ! मरीज़ का पलंग पर लेटे रहना तो दूर रहा वह कमरे से ही ग़ायब है !"

राजू का स्वास्थ्य सुदृढ़ और असाधारण था। साधारणतः उसकी तबीअत ख़राब होने की बात पर कोई विश्वास नहीं करता था। इसका एक कारण यह भी था कि वह किसी कारण से रुष्ट होने पर झूठमूठ अपनी तबीअत ख़राब बतला देता था। सब लोगों को यह बात मालूम थी। काका ने शायद आज भी यह अनुमान कर लिया कि वह किसी कारण से नाराज़ है। इसलिये उसकी अस्वस्थता की बात हँसी में उड़ा दी।

पर मेरा हृदय किसी अज्ञात आशंका से रह-रहकर बड़े जोरों से धड़क रहा था और किसी तरह शान्त नहीं होता था।

२७

रात को भोजन के समय हम लोग बहुत देर तक ठहरे रहे, पर राजू नहीं आया। कहां गया, इस बात का भी पता नहीं चलता था। जाड़े के दिनों में राजू रात को सात बजे के बाद कभी घर के बाहर कहीं नहीं रहता था—पेश्तर ही घर पहुंच जाता था। आज यह नयी बात थी। जब बहुत देर तक ठहरे रहने के बाद भी नहीं आया तो सब ने अनिच्छा के साथ खाना खाया। खाना खा लेने के बाद भी 'ड्राइंग-रूम' में बैठकर हम लोग उसी की बाट जोहते रहे। बीच-बीच में बातें होती जाती थीं, पर सब का ध्यान राजू के ही प्रति लगा हुआ था। ज़रा भी आहट पाते ही

सब सजग हो उठते थे। पर सब व्यर्थ था। राजू नहीं आया। सबके मन में शंका बढ़ती जाती थी। काका हज़ार अपनी चिन्ता छिपाने की चेष्टा करने पर भी नहीं छिपा पाते थे। अन्त को जब साढ़े ग्यारह बज चुके तो लीला की आंखें झपते देखकर काका कुर्सी पर से उठकर बोले—"लज्जा, अब बैठे रहना फ़िज़ूल है। लीला और तुम अब जाकर सो रहो।" उनकी आवाज़ भरी हुई थी।

मेरे हाथ-पांव कांप रहे थे और उठने-बैठने की शक्ति मुझमें नहीं रह गई थी। फिर भी बलपूर्वक उठी और लीला का हाथ पकड़कर चलने की तैयारी करने लगी।

अम्मां ने व्याकुल दृष्टि से काका की ओर देखकर अत्यन्त करुण और कम्पित स्वर में कहा—"क्या होगा? कहीं किसी मोटर या गाड़ी के नीचे दब-दबा तो नहीं गया? क्या पुलिस में ख़बर नहीं दी जा सकती?"

अम्मां ने जो बात सुझाई वह बड़ी भयंकर थी। लीला सुनकर थर-थर कांपने लगी। मैं भी कम नहीं घबराई।

काका खीझकर बोले—"क्या बेजा बातें करती हो! पुलिस-वुलिस में ख़बर देने की कोई ज़रूरत नहीं। वह खुद आ पहुंचेगा।"

लीला को कमरे में पहुंचकर बिस्तर पर लेटते ही नींद आ गई। पर मुझे तो वैसे ही उन्निद्रा का रोग था, तिसपर आज भयंकर आशंका से उत्तेजित हो उठी थी। इसलिये लेटे-लेटे अनेक दुश्चिताओं में निमग्न हो रही।

प्रायः एक घंटे के बाद बाहर फाटक के बन्द होने का शब्द सुनाई दिया। चौकीदार शायद अभी तक जगा हुआ था और सम्भवतः राजू आ गया था, और उसके आने पर उसने फाटक बन्द कर दिया था। फाटक बन्द होने के कुछ ही देर बाद राजू का कमरा खुलने और फिर बन्द होने की आवाज़ आई। मुझे पूरा विश्वास हो गया कि राजू आ गया है और मेरी दुश्चिन्ता बहुत-कुछ दूर हो गई।

मस्तिष्क का भार हलका होने से मेरी आंखें झपने लगीं। निद्रा और जागरण के बीच में एक अवस्था होती है। धीरे-धीरे मैं उसी अवस्था को प्राप्त हो गई। कितनी देर तक यह अवस्था रही, ठीक बतला नहीं सकती। अचानक बन्दूक के चलने की-सी एक धड़ाके की आवाज़ सुनाई दी और मैं चौंक पड़ी। अपने कमज़ोर दिल की वह हालत मैं कैसे लोगों को समझाऊं! ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह गोली सीधे मेरे ही हृदय पर लगी हो।

क्या हुआ, आवाज़ कहां से आई, कुछ मालूम नहीं हुआ। मैं बड़ी उत्कंठा से इस बात की बाट जोहती रही कि संभवतः कोई नौकर मेरे पास आकर इस रहस्य का मर्मोद्घाटन कर जायगा।

प्रायः पंद्रह मिनट बाद राजू के कमरे का किवाड़ खुलने का शब्द फिर सुनाई दिया और तत्काल ही किसी के चीखने की आवाज़ आई। वह विकट आर्त-रव सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। सारे शरीर का रक्त सूख गया। माजरा क्या है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता था।

थोड़ी देर बाद किसी ने आकर बाहर से मेरे कमरे का किवाड़ खटखटाया। भीत होकर मैंने पूछा—"कौन है?"

काका के 'पर्सनल एसिस्टेंट' गौरीशंकर दुबे की आवाज़ सुनाई दी। उन्होंने कहा—"लज्जा, उठो, किवाड़ खोलो, सर्वनाश हो गया है।"

"क्या हुआ?" कहकर मैं रोती हुई पलंग पर से उठ बैठी और चिटखनी खोल दी।

"राजू ने अपनी छाती में गोली मारकर आत्महत्या कर डाली है!" कहकर दुबे जी बच्चों की तरह फूट-फूटकर रोने लगे।

वज्र-स्तंभित होकर मैंने कहा—"ऐं! यह आप क्या कहते हैं, दुबे जी!"

मुझे चक्कर आने लगा था इसलिये मैं दीवार के सहारे खड़ी हो गई।

दुबे जी ने कहा—"क्या कहूं! कहने-सुनने की कोई बात अब न रही। लीला! अरी लीला!" कहकर वह लीला को जगाने लगे। राजू

के कमरे से अम्मां के रोने-चिल्लाने की दिल दहलाने वाली आवाज़ सुनाई दे रही थी।

लीला गाढ़ निद्रा में मग्न थी। जब दुबे जी ने हाथ से धक्का दिया तब वह हड़बड़ाती हुई उठ बैठी।

"क्या हुआ, दुबे जी ?"

"राजू चल दिया।" दुबे जी का गला कांप रहा था।

लीला ने घबराकर पूछा—"कहां को ?"

"उसने अपने को गोली मार ली।"

यह कहकर भावावेश न रोक सकने के कारण दुबे जी फिर एक बार व्याकुल होकर रो पड़े।

"भैया, क्या किया ! भैया ! भैया !" कहकर रोती, बिललाती और सिर पीटती हुई लीला बावली-सी होकर पलंग पर से नीचे कूद पड़ी।

दुबे जी के साथ अर्द्धचेतनावस्था में दुर्घटना के स्थल पर पहुंचकर देखती क्या हूं कि राजू—मेरा प्यारा भाई, हमारे कुटुम्ब का एक मात्र गौरव राजू—नीचे फ़र्श पर हाथ-पांव पसारकर मृतावस्था में पड़ा है और उसके कपड़े उसकी छाती के ख़ून से तर हैं। नीचे एक पिस्तौल भी पड़ी हुई थी। अम्मां सिर पीट-पीटकर, अपना सिर राजू की छाती के ऊपर रखकर हाय-हत्या मचाकर रो रही थीं। काका निर्विकार भाव से ऊपर खड़े-खड़े भाग्य-नियंता की यह निष्ठुर लीला देख रहे थे। कुछ कहने की, किसी को कुछ समझाने-बुझाने की शक्ति उनमें नहीं थी। लीला आते ही यह सब दृश्य देखकर, धरती पर पछाड़ खाकर, अपने विदीर्ण क्रंदन से नैशवायु को चीरकर कहने लगी—"भैया ! यह अनर्थ क्या हुआ भैया ! मैं अब क्या करूं भैया ! भैया ! भैया !—"

अर्द्धरात्रि के उस विकट भौतिक कांड की विभीषिका का वर्णन मैं किस प्रकार करूं ? यह बात मेरे सामर्थ्य के बाहर है। इसलिये इस सम्बन्ध में कुछ लिखना ही वृथा है।

मुझे रोना नहीं आ रहा था। मैं स्वप्नावस्था की तरह, विभ्रांत आंखों से केवल राजू की ओर देख रही थी। कभी ख़ून से तर उसकी सुदृढ़ छाती-पर दृष्टि डालती और कभी उसके चैतन्यविहीन, सुन्दर, शांत और प्रसन्न मुख-मंडल की ओर टकटकी बांधे रहती।

धीरे-धीरे मेरा मस्तिष्क निर्जीव-सा होने लगा और सिर में चक्कर आने लगा। मैं मूर्च्छित होकर नीचे गिर पड़ी।

२८

जब आंखें खुलीं तो मैंने अपने को उसी अवस्था में, वहीं नीचे फ़र्श पर, पड़े पाया। स्पष्ट ही मालूम हो गया कि किसी ने मुझे जगाने की चेष्टा नहीं की, किसी को लेशमात्र भी मेरी चिन्ता नहीं हुई। जिस महाशोक में सारा कुटुम्ब मग्न था उसके आगे मेरी मूर्च्छा——मेरी मृत्यु तक——नगण्य थी। 'रिवाल्वर' तो वहीं पर पड़ा था, एक-आध गोली उसमें अवश्य ही बची होगी, तब क्यों काका ने मेरी छाती पर तत्काल गोली नहीं चलाई ? इस पापिनी, कुलबोरिनी, हत्यारी लड़की की मूर्च्छा के प्रति उत्कट अवज्ञा प्रकट करके उन्होंने उचित ही किया था——पर चिरकाल के लिये उसका अस्तित्व ही मिटा देने में क्यों कोई बात उठा रक्खी ?

अम्मां और लीला का रोना अभी तक उसी प्रकार जारी था। राजू की मृत देह को घेरकर अभी तक लोग उसी प्रकार खड़े थे। मूर्च्छा भंग होने पर निहायत कमजोरी के कारण मुझमें उठने की न तो शक्ति ही थी और न इच्छा। मुझे फिर स्मरण हो आया कि जो आतंककारी घटना आज हो गई उसके बाद अब मरने, मूर्च्छित होने, बैठने और उठने में कोई भेद ही नहीं रह गया है——संसार की समस्त क्रियाएं शून्य की गाढ़तम काली छाया से आच्छन्न होने के कारण एक रूप में परिणत हो गई हैं। यह बात सोचते-सोचते फिर मेरा मस्तिष्क धीरे-धीरे विह्वल हो आया, और मैं फिर एक बार मूर्च्छित हो गई।

दूसरी बार आंखें खुलने पर भी मैंने अपने को उसी अवस्था में पाया। किसी ने मुझे उठाकर पलंग पर नहीं रक्खा था। इस बात के लिये मेरे मन में दुःख बिलकुल भी नहीं हुआ और न किसी के प्रति अभिमान का भाव ही उत्पन्न हुआ।

रात बीत चुकी थी, उजाला हो गया था। लोग उसी तरह खड़े थे। पुलिस के दो-एक आदमियों की लाल पगड़ियां देखने में आईं। मन-ही-मन "हा राम!" कहकर मैं प्रबल चेष्टा करके उठ खड़ी हुई।

'पोस्ट मार्टम' हो रहा था। पुलिस में शायद पहले ही ख़बर भेज दी गई थी। इस समय 'रिवाल्वर' को लेकर विवाद मचा हुआ था। काका यद्यपि असहयोगी कभी नहीं रहे, तथापि असहयोगियों के साथ उनको गुप्त सहानुभूति थी, यह बात पुलिस को मालूम थी, इसलिये उनकी सभी बन्दूकों और 'रिवाल्वरों' के लायसेंस जब्त किए गए थे। लायसेंस जब्त होने के बाद भी यह 'रिवाल्वर' कहां से आया, इस बात पर विवाद चल रहा था।

काका ने राजू के हाथ का लिखा एक कागज़ दिखलाया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि राजू अपने जिस मित्र से 'रिवाल्वर' मांग लाया था उस कागज़ में उसका उल्लेख किया गया था। रिवाल्वर और कागज़ पकड़कर पुलिस बिदा हुई। जो डाक्टर महाशय मृतक-परीक्षा के लिए आए थे वह भी चल दिए। उन लोगों के जाने पर काका की आंखों से दो-एक बूंद आंसू के टपक पड़े। इसके पहले उन्होंने अभी तक एक बूंद आंसू का नहीं गिराया था।

जो कागज़ पुलिस वाले ले गए थे, उसमें राजू ने क्या-क्या बातें लिखी थीं—कोई बात मेरे सम्बन्ध में भी थी या नहीं, यह जानने के लिये मैं विशेष उत्सुक थी। पर किसी तरह यह बात मालूम नहीं हुई। गया! गया! सारे कुटुम्ब से सदा के लिये अपना सम्बन्ध तोड़कर वह अब गया! रह-रहकर मेरे मन में केवल यही भावना जैसे धरना दिए बैठ गई थी। मैंने सोचा—"मेरे दुश्चरित्र पर दुःखित, संतप्त और उत्तेजित होने वाला कोई व्यक्ति अब घर में नहीं रहा। मैं अब जी-भर डाक्टर साहब या

अन्य किसी सुरूप पुरुष के साथ आनन्द की बातें कर सकती हूं—मेरे सुख की स्वतंत्रता में बाधा पहुंचाने वाला जो तीखा कंटक था वह अब निकल गया—अब मैं निर्द्वंद्व होकर विचर सकती हूं।" पर उस कंटक के निकलने पर ऐसी तीक्ष्ण वेदना होगी, यह बात पहले कौन जानता था ? यह बात मुझे आज मालूम हुई कि कंटक की यह वेदना नारी के हृदय को इतनी प्यारी होती है । हाय, यदि समस्त जीवन भर वही वेदना मेरे मन में गड़ी रहती !

अर्थी तैयार थी। माधवी दीदी के प्यारे भाई की लाश उसके पति की मृत्यु के छठे दिन श्मशान को ले जानी पड़ेगी, यह किसने सोचा था ! पर--- भगवान् ! मुझे कभी क्या क्षमा मिलेगी ?

२६

तमाम शहर में खबर फैल गई थी। लोग समवेदना प्रकट करने के लिये एक-एक करके काका के पास आने लगे। काका हां या नहीं के अतिरिक्त किसी के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं देते थे। वह न मालूम क्या सोच रहे थे, उनका ध्यान न मालूम कहां को लगा हुआ था ! पर यह निश्चित था कि उनके मुख पर शांत और निर्विकार भाव विराज रहा था।

अचानक मैंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि डाक्टर कन्हैयालाल प्रोफ़ेसर किशोरीमोहन को साथ लेकर बेंत की छड़ी को हाथ से इधर-उधर घुमाते हुए तेजी के साथ चले आ रहे हैं। आरम्भ में जब डाक्टर साहब से मेरा परिचय हुआ था तब इसी अवस्था में, प्रोफ़ेसर साहब के साथ मैंने उन्हें देखा था। आज डाक्टर साहब का वही रूप देखकर मैं दहल उठी।

मैं दूर ही से डाक्टर साहब को एकटक देख रही थी। मैं सोचती थी—"यह वही डाक्टर साहब हैं जिनकी बदौलत हमारे घर का सर्वनाश हो चुका है। यह वही महाशय हैं जो नित्य नयी-नयी युवतियों की खोज में रहते हैं, और यह वही हज़रत हैं जिन्हें मैंने घृणा की सनक में एक बार दुतकार दिया था। पर आज ऐसे घोर अनर्थ के बाद भी क्यों रह-रहकर मेरी आंखें उन्हीं की ओर

लगी हैं ? क्यों उनके रूप का मोह मैं नहीं त्याग सकती ? क्यों ऐसे हत्याकांड के बाद भी मेरा जी रह-रहकर उनसे बातें करने के लिये आकुल हो रहा है ? भगवन् ! इस दुराचारिणी नारी की अंतिम गति क्या होने वाली है !"

मैंने दोनों हाथों से अपनी आंखें ढक लीं और डाक्टर साहब को न देखने का संकल्प किया। डाक्टर साहब भीतर काका के पास चले गए। मैं अपने कमरे में आकर बैठ गई। पर रह-रहकर मन उनसे मिलने के लिये चंचल हो उठता था। बहुत देर तक मैं द्विविधा में बैठी रही। कितनी ही बार उनके पास जाने के लिये उठी, पर फिर-फिर बैठ गई।

बहुत देर हो गई थी। एक अस्पष्ट विश्वास मेरे मन में वर्तमान था कि डाक्टर साहब अवश्य ही जाने के पहले एक बार मेरे पास आकर मिलेंगे। पर मिलकर क्या करेंगे और मैं क्या बातें करूंगी, इस संबंध में मैंने कुछ नहीं सोचा। कुछ भी हो, आखिरी मिनट तक मैं उनके आने की आशा अथवा आशंका करती रही। पर वह नहीं आए।

संध्या हुई। अंधेरा होने लगा। मृत्यु लोक का हाहाकार अपना दल-बल लेकर मेरे कमरे में डेरा बांधने लगा। कहीं से कोई आश्वासन, किसी प्रकार की सांत्वना मुझे नहीं मिल रही थी। आंसू गिराना वृथा था, हाय-हत्या मचाना विफल था। सब शोक-संतप्त थे। किसी को देखकर धैर्य धारण करने की आशा ही नहीं की जा सकती थी। सब के ऊपर अचानक सारा आसमान ही टूट पड़ा था। सारे घर का चमकता सूर्य उठकर शून्य में विलीन हो गया था। वह विशाल भवन, जो जीवन के उल्लास और चहल-पहल के कारण प्रति क्षण आंदोलित और जागरित रहा करता था, आज मृत्यु के अंधकारतम गह्वर से भी अधिक शून्य--भूतों के डेरे से भी अधिक भभावना जान पड़ता था। पर इस बात की नालिश किससे की जा सकती थी !

उस दिन किसी ने खाना नहीं खाया। आंखें बन्द करके मैं किसी तरह लेटी रही।

इस घोर विरक्ति में भी मेरे अंतस्तल के एक अंतरतम कोने में यह अस्पष्ट आशा वर्तमान थी कि काल की गति से धीरे-धीरे एक दिन दुःख का यह घोर अंधकार विलीन हो जायगा और जीवन की नौका फिर पहले की तरह आनन्द की तरंगों में बहने लगेगी। धिक्कार है !

३०

दूसरे दिन सुबह को जब आंखें खुलीं, उस समय शायद नौ बज चुके होंगे। आलस्य के कारण मैं अपने चारों ओर रेशमी लिहाफ़ को समेटे पलंग पर लेटी ही रही। अभी उठना चाहिए या नहीं, कुछ देर तक इसी द्विविधा में रही। जो कुछ होना था वह हो चुका, अब वृथा शोक करने से क्या होगा, यह सोचकर मन में कुछ ज्ञान का भी आविर्भाव हो रहा था। इसी तामसिक अवस्था में रहकर कुछ देर के बाद उठ बैठी।

स्नानादि से निवृत्त होकर बाहर बरामदे में आई। देखा कि काका के कमरे की तरफ़ नौकर-चाकर व्यस्त होकर दौड़े जा रहे हैं। कुछ घबराहट सी हुई। एक नौकर उनके कमरे से लौटकर तेज़ी से दौड़ा आता था। मैंने ज़ोर से उसे पुकारकर पूछा—"छन्नू, क्या हुआ ?"

उसने कहा—"अंधेर हो गया, बीबी, काका अपने पलंग पर बेहोश पड़े हैं। डाक्टर आए हुए हैं।"

यह कहकर वह अपने काम को चल दिया। "भगवान्, यह दूसरा वज्रपात क्या सहन हो सकेगा !" यह सोचती हुई, लड़खड़ाते हुए पांवों से मैं काका के कमरे की तरफ़ चली। किसी ने इतनी देर तक मुझे ख़बर नहीं दी थी।

जाकर देखा, लोग काका के पलंग को घेरकर खड़े हैं। काका की आंखें बन्द थीं। वह चित होकर लेटे थे। सांस बहुत रुक-रुककर चल रही थी। गोरा-उजला मुंह बिलकुल पीला पड़ गया था और कपाल की नसें ऊपर को उछलकर साफ दिखलाई दे रही थीं। कपाल की दोनों तरफ़ की

हड्डियों के बीच में गढ़े पड़ने लगे थे। सिविल सर्जन आया हुआ था। वह उनकी बाईं बांह के ऊपर मांस में से एक पिचकारी द्वारा रक्त निकालने की चेष्टा कर रहा था और जितना रक्त निकलता जाता था उसे एक झाड़न से पोंछता जाता था।

मैंने आंखों में आंसू भरकर उससे अंग्रेजी में पूछा—"साहब, काका को क्या हो गया ?"

वह पिचकारी से रक्त निकालता हुआ एक बार मेरी ओर ताककर बड़े शांत और मधुर स्वर में बोला—"'सेरीब्रल हेमरेज' हो गया है। दिमाग़ में ज्यादा खून जमा हो जाने की वजह से दिमाग़ की कोई नस टूट गई है। यह सब 'एपोप्लेक्सी' के चिन्ह हैं।"

"इसका कारण क्या हो सकता है ?"

"कई कारणों से ऐसा हो जाता है, पर साधारणतः किसी कठिन दुःख की चिंता के कारण अधिक उत्तेजित हो जाने से ही ऐसा हुआ करता है।"

"हाथ से आप रक्त क्यों निकालते हैं ?"

"इस स्थान का संबंध सीधा मस्तिष्क से ही होता है। यहां से खून निकालने पर संभवतः दिमाग़ कुछ हलका हो जाय। पर अब आशा बहुत कम है। हालत बहुत ज्यादा ख़राब है। I am afraid, it is too late now. I am very sorry, Miss ! मैं सिर्फ़ अपना कर्त्तव्य पालन कर रहा हूं, बस। ईश्वर ही कुछ कर सकता है तो दूसरी बात है, नहीं तो अब इनके जीवन की आशा छोड़ देनी चाहिए।"

ओफ़ ! उसकी यह अंतिम बात कैसी तीक्ष्णता से मेरे कलेजे में चुभी ! मैं अब तक यह समझे थी कि यह मामूली बेहोशी है और थोड़ी देर में अच्छी हो जायगी। अम्मां को भी शायद अब तक यही आशा थी। डाक्टर की यह बात सुनकर उन्होंने सिर पीटना शुरू कर दिया।

पर इस एक क्षण के भीतर मेरे हृदय में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। मेरे अत्यन्त दुर्बल नारी-हृदय में एक पौरुषमय दृढ़ता धीरे-धीरे अपना अधिकार जमाने लगी। ऐसी घोर संकटमय और निस्सहाय स्थिति में इस प्रकार की कठिन दृढ़ता का होना असंभव-सा था, इस कारण मुझे अपने हृदय के इस आकस्मिक परिवर्तन पर अत्यन्त आश्चर्य हो रहा था। एक अज्ञात वाणी मेरे हृदय के कानों में कह रही थी—"राजू गया, काका जाने को तैयार हैं। महाकाल का भयंकर कोप तुम्हारी दुर्बलता का अनुचित लाभ उठाकर तुम्हारे पाप का निष्ठुर बदला लेना चाहता है। तुम्हें पूरी तरह से नष्ट-भ्रष्ट करके ही वह शांत होगा। निष्ठुर दैव से तुम्हें किसी प्रकार का सहारा नहीं मिल सकता। जब तक तुम में स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति उत्पन्न नहीं होगी तब तक नियति के चक्र में तुम बेभाव पिसती जाओगी। यदि तुम अनंत शून्य के बीच में अपना अस्तित्व क़ायम रखना चाहती हो तो इसी अवसर पर, इसी क्षण, जागरित हो जाओ और अपनी आत्मा के भीतर से विपुल शक्ति संग्रह करके कठिन-से-कठिन विपत्ति के लिये तैयार हो जाओ। यदि ऐसा न करोगी तो तुम्हें छिन्न-भिन्न होकर गहन शून्य में बिखर जाना पड़ेगा और तुम्हारी आत्मा खंड-खंड होकर प्रलयांधकार में विलीन हो जायगी।"

इस दैव-वाणी से मेरे भीतर तत्काल एक अलौकिक और अवर्णनीय प्रेरणा उत्पन्न हो गई और अमृत का संचार होने लगा। मैंने एक लंबी सांस लेकर मन-ही-मन कहा—"काका, राजू की तरह इस पापिनी के ऊपर कुपित होकर तुम भी बिना सूचना दिए जाते हो? जाओ! जाओ! मैं इस समय निस्सहाय हूं, मेरा कोई सहारा नहीं है, इसलिये इस समय तुम मुझे धोखा देने में समर्थ हुए हो। पर मेरी मृत्यु के बाद मेरी संतप्त और उत्सुक आत्मा को कैसे धोखा दे सकोगे? कहीं जाओ, जन्म से जन्मांतर तक तुम दोनों की खोज किए बिना मैं कभी विश्राम नहीं लूंगी, इस बात का मुझे पूरा विश्वास हो गया है। इसी एक सांत्वना को लेकर मैं जीवन धारण करूंगी।

जाओ, जाओ! इस पतिता का कलंकित मुख अब अधिक न देखना ही तुम्हारे लिये उचित था।"

मैंने मन-ही-मन उन्हें प्रणाम किया।

दिन भर अवस्था प्रायः एक-सी रही। उनकी सांस उसी तरह रुक-रुककर चलती रही। बीच-बीच में बेहोशी की हालत ही में उलटियां भी होती जाती थीं। मेरे मन में आख़िरी मिनट तक यह आशा बनी थी कि शायद किसी कारण से फिर उनके प्राण लौट चलें। पर यह केवल दुराशा थी। जीवन का तेल धीरे-धीरे घटता जाता था। दीया मुरझाता जाता था। अन्त को दूसरे दिन, आठ बजे के क़रीब, दीप सदा के लिये निर्वापित हो गया!

३१

काका की मृत्यु पर कई शोक-प्रकाशक तार और पत्र अम्मां के पास आए थे और समाचारपत्रों में भी इस संबंध में संवाद छपे थे। ऐसा मालूम होता था जैसे सचमुच उनकी मृत्यु से व्यापारी समाज की जो भयंकर हानि हुई है उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकेगी। पर मुझे इस शिष्टाचार-जनित दिखावटी शोक का अनुभव अन्यान्य प्रसिद्ध व्यक्तियों की मृत्यु से पहले ही हो चुका था, इसलिये मैं इस संबंध में यथेष्ट उदासीन थी। आज काका की मृत्यु को कुछ ही महीने हुए हैं, पर कहीं उनका नाम न तो सुनाई देता है न कहीं पढ़ने में ही आता है। सामाजिक कीर्ति इतनी क्षणिक है! उसका कोलाहल इतना पोपला है!

पर मुझे इस बात का दुःख नहीं था कि उनकी कीर्ति स्थायी नहीं रही। उनकी आकस्मिक मृत्यु से जो गहरा धक्का मुझे पहुंचा था उसने मेरी मृत, गलित आत्मा को पुनर्जीवित कर दिया, यह बात मेरे लिये अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

काका ने राजू के शोक में प्राण त्यागे थे, इस बात में कुछ भी संदेह नहीं रह गया था। पर क्या राजू की मृत्यु से मेरे हृदय में चोट नहीं पहुंची थी?

क्या काका का दुःख मेरे दुःख से बड़ा था? संभव है। पर मैं यह बात अच्छी तरह से जानती हूं कि राजू की भयंकर मृत्यु के कारण जो घाव मेरे हृदय में बना है वह कभी अच्छा नहीं हो सकता—उस स्थान पर सदा के लिये नासूर हो गया है, यह बात कैसे लोगों को समझाई जाय! काका का घाव तो उनकी मृत्यु हो जाने से तत्काल ही अच्छा हो गया—उन्हें अधिक कष्ट ही नहीं भोगना पड़ा। साधारणतः लोगों का यह विश्वास रहता है कि जिस दुःख से आदमी प्राण त्याग देता है वही दुःख सबसे बड़ा होता है। पर यह भयंकर भूल है। किसी दुःख से मृत्यु इसलिये होती है कि उसके कारण स्नायविक चक्र में तत्काल एक ज़बर्दस्त उत्तेजना पैदा हो जाती है। यदि किसी कारण से उत्तेजित व्यक्ति उस समय अपने को संभाल सके तो फिर वह दुःख उसे अधिक नहीं सताता और धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाता है। पर एक प्रकार का दुःख ऐसा होता है जो तत्काल तो विशेष कष्ट-दायक मालूम नहीं होता, पर घाव के पकने पर धीरे-धीरे हड्डी-हड्डी और रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। ऐसे दुःख से मृत्यु तो नहीं होती, पर आजीवन उसकी जलन से आत्मा झुलसती रहती है। पुत्र की मृत्यु के शोक से पिता की मृत्यु हो जाने की घटनाएं बहुत देखने में आती हैं, पर यह बहुत ही कम सुना जाता है कि किसी माता ने इस दुःख से प्राण त्याग दिए। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि पिता का दुःख माता के दुःख से बढ़कर होता है। माता को दुःख की जो अग्नि धीरे-धीरे जीवन-भर जलाती रहती है वह मृत्यु से कई गुना भयंकर होती है। राजू की मृत्यु से काका अपने प्राण त्याग कर दुःख से मुक्त हो गए। पर मेरी नस-नस में उस दुःख की जो जलन व्याप्त हो गई थी उसके आगे मृत्यु का क्षणिक दुःख कितना तुच्छ था!

पहले मेरा ऐसा विश्वास था कि मैं काका को जितना प्यार करती हूं उतना किसी को नहीं। पर अपने अनजान में मेरा रोम-रोम केवल राजू को ही प्यार करने के लिये उन्मुख रहता था, यह मुझे नहीं मालूम था। अपने भाई के लिये मेरा प्रेम इतना दृढ़, अंतर्व्यापी और स्थायी था, यह

बात मुझे उसकी मृत्यु के बाद मालूम हुई। अन्य सब व्यक्तियों के प्रति मेरा चंचल प्रेम धीरे-धीरे विलीन होने लगा था, पर राजू के लिये मेरा हृदय अधिक-अधिक हाय-हाय करता जाता था। रह-रहकर मुझे यह भावना संतप्त कर रही थी कि मेरे कारण मेरे प्यारे भाई के हृदय में जीवन-भर कांटा गड़ा रहा और अन्त को उसका उन्नत और अमूल्य प्राण सबकी माया त्यागकर संसार से उठ गया।

३२

एक दिन मैं राजू के कमरे में एक विशेष ग्रंथ को ढूंढ़ रही थी। अचानक एक डायरी मेरे हाथ लगी। खोलकर पढ़ने लगी। पढ़ते-पढ़ते मेरा चित्त उसमें इस तरह से लग गया कि खड़े-खड़े मैंने उसे पूरा पढ़ डाला। मैं उसमें इस हद तक तल्लीन हो गई थी कि अपने तन-बदन की सुध भी मुझे नहीं थी। राजू के हृदय से मैं बहुत-कुछ परिचित थी, पर इस डायरी से उसके सम्बन्ध में जो प्रकाश मुझे प्राप्त हुआ वह अतुलनीय था। डायरी के कुछ अंश आज जन-साधारण के सम्मुख पेश करती हूं :—

"मेरी दिन-चर्या का क्रम कैसा अद्‌भुत है ! जीवन का महत् उद्देश्य मेरे सामने होते हुए भी किसी निश्चित कार्यक्रम के नियमों का पालन मुझसे नहीं होता। जीवन की अनंत गति देखकर मेरी बुद्धि चकरा गई है। मुझे चारों तरफ केवल अंधकार ही अंधकार दिखलाई देता है। कहीं से कोई सहारा मुझे नहीं दिखलाई देता, कहीं से कोई उत्साह मुझे नहीं मिलता। निराशा, निरुत्साह और निरुद्यम ! मैं यह सोचकर हैरान हूं और दुबिधा में पड़ा हूं कि मुझे जीना चाहिए या मरना। मैं जानता हूं कि इस विकट समस्या ने अनेक युगों में अनेक पुरुषों को पागल बनाया है और इसका समाधान कोई नहीं कर सका। पर यह जानकर भी मैं बेबस इसी एक भावना से आच्छन्न हुआ जाता हूं।

"मैं चाहता हूं कि जीवन के आनन्द-विलास में सम्मिलित होकर इस दुःखमय संसार में जहां-कहीं जो कुछ भी पार्थिव सुख प्राप्त होता हो उसे अन्यान्य

सुखान्वेषियों की तरह ग्रहण करूं। पर यह इच्छा मन में उत्पन्न होते ही थोड़ी ही देर बाद निबिड़ घृणा से मेरा सर्वांग जर्जरित हो जाता है, और फिर दुःख के अतल सागर में डूब जाने को जी करता है।

"दुःख के प्रति क्यों मेरे मन में ऐसी चाह है? दुःख की भावनाओं में क्यों मुझे इतना आनन्द प्राप्त होता है? क्यों मैं सदा दुःख, अंधकार और मृत्यु का ही चिन्तन किया करता हूं? लोग उपदेश देते हैं कि मनुष्य को सदा आशान्वित होकर कार्य करते रहना चाहिए। वे कहते हैं कि जीवन में सुख है, आशा है और आनन्द है; हमें आनन्द का ही अनुकरण करना चाहिए। पर मेरी आंखों के सामने क्यों प्रतिपल अन्याय, अत्याचार, नीचता और स्वार्थ के बीभत्स दृश्य नाचते रहते हैं? क्यों हर घड़ी मेरा ख़ून खौला हुआ रहता है? क्यों मैं अपनी बेबसी के कारण अपने दांत पीस-पीसकर, जी मसोसकर रह जाता हूं? क्या मनुष्य का जीवन सचमुच एक आनन्दमय स्वप्न है? अथवा किसी पैशाचिक देवता का निष्ठुर अभिशाप है? यदि आनन्द की नींव पर जीवन की इमारत खड़ी हुई है तो क्यों रात-दिन दुर्बलों की हाय-हाय सुनकर मेरे कलेजे में लाखों छिद्र हो गए हैं? क्यों सबलों में स्वार्थपूर्ण भोग के प्रति उत्कट लालसा देखकर घृणा और प्रतिहिंसा के भाव से मेरा दम घुटने लगता है? क्यों रोग-शोक और दुःख-दारिद्रय की कालिमा से पृथ्वी माता का समस्त शरीर जर्जरित और उत्तप्त हो रहा है? क्यों अंत में दुर्बलों की तरह सबलों की भी गति समान होकर दोनों को किसी भयंकर पाषाण से टकराकर किसी अंधकारमय विकराल छाया का ग्रास बनना पड़ता है? इन सब बातों को देखते हुए भी कैसे मेरे मन में आनन्द की उमंगें हिलोरें ले सकती हैं?

* * * *

"मैं अकेला हूं। मुझे जीवन का एक भी साथी कहीं कोई नहीं मिला। काका, अम्मां और अपनी बहनों के साथ मेरे स्नेह-प्रेम का चक्र चल रहा है, पर क्या सचमुच हम लोग एक-दूसरे को प्यार करते हैं? मैं विश्वास नहीं

कर सकता। सब को अपनी-अपनी जान प्यारी है, सब अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये जीवन धारण किए हैं। संभव है, कोई मुझे सच्चे दिल से प्यार करता हो, पर मैं किसी को प्यार नहीं करता। काका, अम्मां, दीदी, लीला, इनमें से अभी कोई इस लोक से चल बसे तो मुझे कुछ भी दुःख होगा, इस बात की आशा मुझे नहीं है। कोई मरे या जिए, जब इस सम्बन्ध में मैं उदासीन हूं तो कैसे किसी को प्यार कर सकता हूं! हां, रक्त का सम्बन्ध अवश्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार कुछ-न-कुछ असर दिखलाता है। अपने घर के लोगों के साथ मैं केवल इतने ही बंधन में बंधा हूं।

"मैं इस विजन विश्व में अकेला हूं, इस अनुभूति की वेदना कैसी तीव्रता से नित्य मेरे मर्म को विद्ध करती है! इस बृहत् संसार में एक व्यक्ति भी मेरी यातनाओं का, मेरी भावनाओं का साझी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने रात-दिन के सांसारिक चक्र में व्यस्त है, और मैं अकेला रात्रि के गहन अंधकार में तारों को गिनता हूं। मुझे पूरा विश्वास है कि लोग मेरी इस डायरी को पढ़कर कहेंगे कि यह एक अनुभवहीन, अव्यावहारिक, आलसी व्यक्ति की पोपली भावुकता है और कोरी कविता है। हाय, मैं कैसे बताऊं, कैसे लोगों को विश्वास दिलाऊं कि मेरा रोम-रोम केवल इसी अंधकारमय सत्य के लिये लालायित है!

* * * *

३३

"पापी पेट के भार से जो लोग मुक्त हो गए हैं, जिन्हें दैवी कृपा से खाने-पीने की चिन्ता नहीं है, उनमें से कोई राजनीति के पीछे पागल है, कोई संसार की भलाई में लगा है, कोई देशोद्धार में रत है, कोई व्याख्यानों अथवा साहित्यिक रचनाओं द्वारा परोपदेश में व्यस्त है। पेट की चिन्ता से मैं भी मुक्त हूं, पर संसार अथवा देश का हित मैं किसी रूप में भी करने के योग्य नहीं हूं। अपनी वैयक्तिक आत्मा के अनन्त रहस्य की उलझन से ही मुझे

छुटकारा नहीं मिलता। एक बिन्दु आत्मा के भीतर अज्ञात अतृप्त आकांक्षाओं की कैसी-कैसी भयंकर लहरें प्रबल वेग से प्रवाहित होती हुई क्षुब्ध गर्जन से उद्दाम क्रीड़ा करती जाती हैं! प्रकृति की यह कैसी आश्चर्यमयी लीला है! घृणा, प्रेम, आनन्द, विषाद, प्रतिहिंसा, करुणा, धैर्य और उत्तेजना का ताड़न प्रतिक्षण कैसी विचित्रता के साथ मनुष्य के भीतर चला करता है! इन सब विकारों से मुक्त होने के लिये मैं रात-दिन छटपटाता रहता हूं, पर न मालूम किस रहस्यमय लोक से, किस अंधकारमय युग से, कौन अचिंतनीय शक्ति मुझे मेरी इच्छा के विरुद्ध धर दबाती है!—मेरी आत्मा की सब स्वतन्त्रता पल भर में नष्ट हो जाती है, और मैं अपनी आंतरिक, अव्यक्त आकांक्षाओं और विकारों का क्रीतदास बन जाता हूं। हाय, क्या अनन्त-काल तक मनुष्य की वैयक्तिक आत्मा और प्राकृतिक शक्ति का संग्राम इसी तरह चलता रहेगा? क्या तात्विकों का ज्ञान सब ढकोसला है? अथवा—

* * * *

"मुझे देखकर बहुत-से लोग संभवतः यह समझते हैं कि यह नवीन युवक कैसा भाग्यशाली है! कैसा जगमगाता हुआ रूप है, कैसा गठीला शरीर है, कैसा अच्छा स्वास्थ्य है, और तिस पर धनी पिता का इकलौता पुत्र है और रंगमहल में रहता है! संभवतः वे लोग विचारते हैं कि एक परम सुन्दरी कन्या के साथ मेरा विवाह होकर उसके साथ रंग-रहस्य में मैं समस्त जीवन आनन्दपूर्वक बिता दूंगा। ठीक है। जीवन के सुख और आनन्द के आदर्श के सम्बन्ध में लोगों की अपनी-अपनी धारणा ही तो है! जीवन को कुछ लोग एक निष्कंटक राजमार्ग समझते हैं जो मोटर तथा पाथेय मिलते ही आनन्दपूर्वक, बिना किसी कष्ट के तय किया जा सकता है। उन लोगों की धारणा में कठिनाई जो कुछ है वह राजमार्ग की दूरी और पाथेय का अभाव है। यदि केवल यही भेद होता तो कोई बात नहीं थी। पर 'क्षुरस्य धारा'—वाली बात भुलाने योग्य नहीं है। वह विकट सत्य है।

* * * *

"पर क्या सचमुच मेरे इस भावुक कैशोर हृदय में स्त्री के लिये कोई स्थान नहीं है ? प्रेम की विकट वासना क्या मेरे मर्म को कभी नहीं छेदती ? क्या मेरा हृदय पत्थर की तरह कठोर और रूखे नैयायिक की तरह तात्विक है ? जो लोग मेरे निकट रहकर नित्य मेरी दिन-चर्या देखते हैं उनमें से बहुतों का यह भी ख़याल है कि मैं विशुद्ध तात्विक हूं और सांसारिक बातों के प्रति एकदम उदासीन हूं। मानवात्मा को ये लोग गंगा की नहर समझते हैं जो एक सुनिर्दिष्ट, सुनिश्चित मार्ग से होकर बहती है। आत्मा के सागर की उत्ताल-तरंग-मालाओं के विकराल प्रवाह से ये लोग परिचित नहीं हैं। उन्हें ख़बर नहीं है कि इस सागर के अनन्त-गति-संपन्न, प्रलयंकर स्वरूप को किसी सुनिश्चित गति के बंधन में नहीं बांधा जा सकता।

* * * *

"प्रेम को लेकर ही मैंने जन्म धारण किया था और प्रेम को लेकर ही जीवन बिताने का मेरा संकल्प था। पर इस सर्वशोषी तृष्णा के निवारण का कोई उपाय मैं इस जन्म में नहीं देखता। कौन मेरे उत्कट वासनामय हृदय के सर्वध्वंसी प्रेम को स्वीकार करेगा ? कौन मेरे इस उत्तप्त प्रेम की आंच को सहन कर सकेगा ? अपने इस क्षुद्र जीवन के अल्प समय में संसार का जो कुछ अनुभव मुझे हुआ है उससे मैंने यही निश्चय कर लिया है कि अपने उत्कट प्रेम की प्रलयाग्नि को किसी के आगे व्यक्त न कर उसे अपनी ही राख से ढकना होगा। यही कारण है कि मैं किसी भी सुन्दरी किशोरी के साथ अधिक हेलमेल बढ़ाकर उसके आगे अपना हृदय व्यक्त करने की तनिक भी इच्छा नहीं रखता। दीदी की कितनी ही सहेलियां नित्य हमारे यहां आती, जाती रहती हैं। दीदी ने उन सब से मेरा परिचय करा दिया है। पर मुलाक़ात होने पर दो-एक बातें करके मैं उदासीनता के साथ उनसे मुंह फेर लिया करता हूं। संसार का समस्त स्त्री-समाज मुझे एक Monotonous affair—एक वैचित्र्यहीन धंधा—जान पड़ता है। कौन बतला सकता है कि मेरे मन को समझने वाली स्त्री मुझे कहां मिलेगी !

* * * *

"मेरे रूप का आकर्षण स्त्रियों के लिये कितना प्रबल, कितना सम्मोहक है, इसका अनुभव मुझे अच्छी तरह हो चुका है। पर मुझे इस बात का बिलकुल गर्व नहीं है। अपने उद्दाम रूप की प्रचंड ज्वाला से मैं स्वयं झुलसा जाता हूं। प्रेम की प्यासी कितनी ही करुण आंखों की मुग्ध दृष्टि ने इस ज्वाला में फांदकर, भस्म होकर जल मरने की इच्छा प्रकट की है। पर मैं जल मरने की इच्छा रखने वाली स्त्री को नहीं चाहता। मैं ऐसी स्त्री को चाहता हूं जो मेरे रूप और प्रेम की अग्नि को अपने हृदय की ज्वाला में विलीन कर के शान्त और संयत रूप से जीवन का जटिल चक्र निभा सके। पर जिस समाज में मैं रहता हूं उसमें ऐसी स्त्री का मिलना असंभव है। पीड़न, निर्यातन और आत्मत्याग के अनुभव के बिना स्त्री में इस गुण का विकास नहीं हो सकता। केवल माधवी दीदी में मैंने यह अपूर्व गुण पाया है। दारिद्र्य और दुःख के घोर अंधकार के भीतर वह जगमगाता हुआ अमूल्य रत्न मैंने पाया है—जिन खोजा तिन पाइयां। इस प्रकार की प्रकृति की स्त्री के दर्शन की उत्कट लालसा मेरे हृदय में वर्त्तमान थी। भगवान ने मेरी मनोकामना सफल कर दी है। मेरी भक्तिरसविह्वल उच्चाकांक्षा की सिद्धि हो चुकी है। माधवी दीदी के उन्नत और पवित्र चरणों के तले अपने गर्वित हृदय की अकपट श्रद्धांजलि प्रदान करने में समर्थ होने के कारण मैं अपने को कृतार्थ और अपने जीवन को धन्य समझ रहा हूं। मेरे जीवन की संगिनी मुझे इस जन्म में किसी प्रकार नहीं मिल सकती, इसलिये इस बात के लिये रोना अब वृथा है।

* * * *

३४

"डाक्टर कन्हैयालाल को मैंने जिस दिन पहली बार देखा उस दिन देखते ही एक अनोखी अप्रिय अनुभूति से मैं सिहर उठा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जो एक विशेष वेदना कितने ही जन्म पहले मेरे हृदय के तल-प्रदेश में बलपूर्वक गाड़ दी गई थी, वह फिर आज नये सिरे से जाग पड़ी—जैसे मेरे जन्म-जन्मान्तर

का शत्रु आज बहुत दिनों के बाद मेरे प्राणों की घात में आ पहुंचा है। क्यों मुझे ऐसा प्रतीत हुआ? उनसे परिचय होने के पहले ही क्यों मेरे हृदय में यह बात जम गई? क्या पूर्वजन्म का संस्कार इसी को कहते हैं? संभव है। पर कुछ भी हो, डाक्टर साहब के प्रति घृणा और क्रोध का भाव मेरे भीतर दिन-दिन बढ़ने लगा है और साथ ही एक अनोखे भय का संचार भी होने लगा है।

*   *   *   *

"जिस व्यक्ति को मैं जी-जान से घृणा करता हूं उसे दीदी क्यों इतना चाहती है? क्या भाई और बहन की प्रकृति में इतना भेद हो सकता है? जिस दीदी के साथ बचपन में खेल-कूदकर मैंने आनन्द के दिन बिताए हैं, जिसके साथ मैं दो-चार साल पहले तक बेधड़क होकर, बिना किसी संकोच के, हिलमिलकर रहा करता था, स्नेहपूर्वक कलह किया करता था, जिसके हृदय को मैं अपने हृदय से बिलकुल भिन्न नहीं समझता था, उसकी प्रकृति से मेरा भेद कुछ वर्षों से धीरे-धीरे बढ़ता चला गया है और अब यह भेद चरम सीमा को पहुंचना चाहता है।

*   *   *   *

"डाक्टर के किस गुण पर दीदी मुग्ध हुई है? उसमें ऐसी कौन सी विशेषता है? सौंदर्य? वाक्-चातुर्य? संभव है। पर क्या एक उन्नत पुरुष का आदर्श इन्हीं दो गुणों में समाप्त हो जाता है? इस शख्स में पुरुषत्व की दृढ़ता, गांभीर्य और भावावेश कहां पाया जाता है? उसमें पाई जाती है केवल चापलूसी, तुच्छ व पोपले ज्ञान का दंभ, स्वार्थ-सिद्धि की बुद्धि और उच्चाकांक्षा का पाखंड। उसके स्वभाव की नम्रता में निर्लज्जता भरी है, उसके सुमधुर शिष्टाचार में नीचता पाई जाती है, उसकी चतुराई की बातों में घृणित दर्प की दुर्गंधि आती है। इस निर्लज्ज ढोंग से भरे आदमी को मैं अपनी समस्त अंतरात्मा से घृणा करता हूं। मैं कितना ही अपने मन को समझाता हूं कि उसके प्रति बिलकुल उदासीन रहूं, पर असह्य

घृणा रह-रहकर उमड़ पड़ती है और मेरे सारे हृदय को तिक्त और विषमय कर देती है। ऐसे आदमी के साथ दीदी को अपने एकान्त कमरे में हँसी-खुशी की बातें करते देखकर मेरा हृदय जलकर भस्म हुए बिना कैसे रह सकता है? हाय, मेरा कलेजा रात-दिन असह्य आंच में भुनता रहता है, और मेरी दीदी, जो मुझे बचपन में इतना प्यार करती थी, यह बात देखते हुए भी नहीं देखना चाहती। उसे आज मेरी परवा बिलकुल भी नहीं है। इसीलिये मैं कहता हूं मनुष्य का प्रेम स्वार्थजनित है, भाई-बहन का प्रेम क्षणिक है, माता-पुत्र का प्रेम झूठा है और पति-पत्नी का प्रेम ढोंग है।

* * * *

"इस डाक्टर का साहस कितना भयंकर है! वक्त-बेवक्त वह बेधड़क दीदी के कमरे में चला जाता है। दीदी के मन में अथवा व्यवहार में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं जान पड़ता और काका और अम्मां इस सम्बन्ध में बिलकुल उदासीन हैं। उदासीन? नहीं। अम्मां तो चाहती हैं कि डाक्टर के साथ दीदी का हेलमेल बढ़े। भगवान्! औरतों को तुमने कैसी मनोवृत्ति दी है! डाक्टर के प्रति विद्वेष और द्रोह के कारण कभी-कभी मैं यहां तक सोचने लगता हूं कि स्त्री-जाति में पर्दे के प्रचलन पर जिस व्यक्ति ने पहले-पहल मानव-जाति के सम्मुख प्रस्ताव पेश किया होगा वह बड़ा भावुक, दूरदर्शी, और सहृदय रहा होगा। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि पर्दे की प्रथा अत्यन्त हास्यास्पद और नाशकारी है, पर बीच-बीच में, इच्छा न होने पर भी, इस प्रकार की कुभावना मेरे मन में उत्पन्न हो जाती है। मैं विवश हूं, मैं लाचार हूं, मेरी मति दिन-दिन भ्रष्ट होती चली जाती है।

* * * *

"दीदी के प्रति मेरे मन में क्या भाव रहता है? क्रोध, घृणा अथवा प्रतिहिंसा? निश्चयपूर्वक कुछ नहीं बतला सकता। शायद इन तीनों का सम्मिश्रण वर्तमान है। पर बीच-बीच में, जब मैं दीदी को अकेले अपने

कमरे में उदास और एकांत-चिंता में मग्न पाता हूं, तब हृदय में न मालूम कौन-सी पुरानी वेदना जाग पड़ती है और बेबस मेरी आत्मा करुणा और स्नेह से गद्‌गद हो जाती है। किन्तु डाक्टर को उसके कमरे में देखते ही फिर वही घृणा और प्रतिहिंसा उमड़ी पड़ती है। मेरा सारा शरीर कांपने लगता है और मैं अपने कमरे में जाकर छाती पीटकर लेट जाता हूं।

* * * *

"माधवी दीदी के यहां दीदी को इस ख़याल से ले गया था कि उसे कुछ चैतन्य होगा——माधवी दीदी की अंतरात्मा का तेज उसपर कुछ असर करेगा। पर अब समझ गया हूं कि ऐसा होना असंभव है।

* * * *

३५

"माधवी दीदी के पति आते ही सख़्त बीमार पड़ गए हैं। मेरी इस जगज्जननी दीदी के मन में कैसी बेकली समाई हुई है! वह अभी तक अपने आंतरिक वैभव, अपनी आंतरिक शक्ति से परिचित नहीं है। देवि! जगत् को छलने के लिये ही क्या तुमने अपना यह करुणामय मायावेश धारण किया है? क्या तुम अपना विकराल कालिका-रूप जान-बूझकर संसार की आंखों से छिपाए बैठी हो? संतान के पालन में रत रहकर तुम संतान के विध्वंस का सुनिश्चित कर्तव्य कब तक भूली रहोगी? अपना दृढ़ और कठोर रूप तुम क्यों इस कठिन स्थिति में व्यक्त नहीं करतीं? क्यों अपनी अत्यन्त सुकुमार और कोमल करुणा से मेरा हृदय पिघलाने में लगी हो?

* * * *

"दीदी की निर्लज्जता इस हद तक पहुंच गई है कि अब रात को भी वह डाक्टर के साथ सिनेमा और थियेटर देखने में ग़ायब रहती है।

क्या समझकर, किस साहस के बल पर वह ऐसा करती है ? क्या वह मेरे विद्वेष की आग में आहुति डालकर अपनी प्रतिहिंसा के कारण सारे कुटुम्ब को फूंक देना चाहती है ? अच्छी बात है। जब विधाता की इच्छा ही यही है कि सारा कुटुम्ब अत्यन्त दुर्गति के साथ विनाश को प्राप्त हो तो उसकी यह इच्छा सफल हो, मैं भी यही प्रार्थना करता हूं। दीदी, मेरे कलेजे को और भी तेज आंच में भूनकर उसके जितने टुकड़े चाहो कर डालो, सारे घर की अंतरात्मा में विध्वंस मचा दो, और प्रलय की ज्वाला में सबको जलाकर हास्य करो। जो जी चाहे मन भर के कर डालो, जिससे तुम्हारे दिल में कोई अरमान बाक़ी न रहने पावे।

* * * *

"माधवी दीदी के पति को पृथ्वी की कोई शक्ति नहीं बचा सकी। निखिल-संहारक रुद्र की जब यही इच्छा थी, तब उसके विरुद्ध कौन अपना बल काम में ला सकता था ? मैंने सोचा था कि इस घटना से माधवी दीदी वज्राहत होकर बावली-सी बन जायंगी। पर मैं मूर्ख इतने दिनों तक उनकी प्रकृति की दृढ़ता से परिचित नहीं हुआ था। कितनी शांत, करुण और साथ ही वज्र-कठिन दृढ़ता से उन्होंने इस घोर संकट के समय भी अपना गांभीर्य क़ायम रक्खा ! पति की मृतावस्था के समय कैसी अलौकिक आभा से उनका मुखमंडल प्रदीप्त हो रहा था ! अपने चिर-जीवन की इस आराध्य देवी को मैंने अत्यन्त श्रद्धा के साथ मन-ही-मन प्रणाम किया। मेरे हृदय के भीतर भक्ति और श्रद्धा का इतना रस छिपा हुआ है, यह मैं नहीं जानता था। माधवी दीदी ने उद्गम के ठीक स्थान पर आघात किया था, इसलिये उस गुप्त रस ने प्रबल वेग से उमड़कर मुझे पुण्य की अविरल धारा में प्रवाहित कर दिया था। मुझे इस जीवन में इतना ही संतोष है कि स्त्री-जीवन की अनेक चंचलता और दुर्बलताओं के दलदल से होकर जीवन के पथ में भटकते हुए मुझे अंत को नारी का यथार्थ स्वरूप दिखलाई दिया है।

* * * *

"श्मशान में जाकर चिता तैयार करके उसके ऊपर लाश रखकर जब हम लोग उसमें आग जला चुके तो थकावट के कारण सब बालू के ऊपर बैठ गए। आसमान में बादल छाए हुए थे। सर्वत्र एक अवसाद-जनक उदासी व्याप्त थी। चिताग्नि की लपटें धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करती जाती थीं। मैं बहुत देर तक निर्विकार भाव से इन लपटों की बहार देखता रहा। धीरे-धीरे लाश का मुंह विकृत हो गया और नीचे पैरों का मांस, हड्डी और चर्बी जल-जलकर, पिघल-पिघलकर नष्ट-भ्रष्ट हो गए। ज्वालाओं का भीषण रूप सांय-सांय कर के उग्रतर होता चला गया।

"ज्ञानी लोग यह उपदेश बराबर देते आए हैं कि मनुष्य के नश्वर शरीर का ख़याल न करके उसकी आत्मा पर ध्यान दिया करो। पर लाख यह उपदेश सुनने पर भी मनुष्य के सुन्दर शरीर के प्रति जो एक मोह-जनित संस्कार अंतरात्मा में बद्धमूल रहता है वह सहज में जाना नहीं चाहता। इस कारण चिताग्नि जब इस अनुपम देह को विकृत कर देती है तो इस वीभत्स दृष्य से हृदय में एक प्रकार की उत्कट भीति उत्पन्न हो जाती है। मेरा भी यही हाल था। यह दृश्य देखकर, भय चिंता और आध्यात्मिकता की तरंगें रह-रहकर मेरे चित्त को आंदोलित कर रही थीं। श्मशान-वैराग्य प्रसिद्ध ही है। मैं सोचने लगा––'एक दिन मेरे अपरूप सौंदर्य-मंडित शरीर का भी यही हाल होगा। मर्मर-प्रस्तर की सजीव मूर्ति के समान मेरा सुन्दर, सुडौल, सुगठित और चलता-फिरता हुआ शरीर विकृत, विगलित और गतिहीन होकर जिस अवस्था को प्राप्त होगा उसका अनुमान ही नहीं किया जा सकता। नाना भावों और आवेगों से प्रतिक्षण प्रकंपित रहने वाला मेरा हृदय न मालूम किस शून्य में विलीन हो जायगा और नाना चिन्ताओं से आच्छन्न रहने वाला मेरा चंचल मस्तिष्क बिलकुल निश्चल और अचेत पड़ जायगा। विपुल प्रेम और आनन्द के भाव से फूली हुई आत्मा का भी अस्तित्व रहेगा या नहीं इसमें भी संशय है। किस अंधकार के विकराल जबड़ों का ग्रास बनना होगा, यह मालूम नहीं। तब कैसा होगा? इस भीषण, अनिश्चित अंधकार से मिलित होने की उत्कट

लालसा यदि किसी में पाई जायगी तो वह मेरे हृदय में व्याप्त हिंसा, विद्वेष और घृणा के भावों में। मेरे ये भाव मुझे अनंतकाल तक अनन्त अंधकार में विलीन रहने को बाध्य करेंगे।'

"सोचते-सोचते मेरा हृदय भय के कारण ज़ोरों से धड़कने लगा। मैं बैठा नहीं रह सका और उठकर गंगा के किनारे-किनारे टहलने लगा। गंगा का शांत और स्निग्ध प्रवाह कैसी सुमधुर प्रसन्नता से, अविरल गति से आगे को बढ़ता चला जाता था! कुछ देर तक मैं अन्यमनस्क-सा होकर टहलता रहा। धीरे-धीरे मेरा चित्त कुछ स्थिर हो आया और एक सुनिश्चित संकल्प मेरे मन में जम गया। मैंने सोचा—'किसी तरह से भी हो, विद्वेष और घृणा के भाव को मन से उखाड़ फेंकना होगा और मृत्यु के रोमांचकारी आलिंगन के लिये हर घड़ी तैयार रहना होगा। डाक्टर कन्हैयालाल की सूरत से मुझे चिढ़ है और दीदी के प्रति मेरे मन में विद्वेष भरा है—मौत के द्वार में इन भावों को लेकर यदि मैं जाऊंगा तो मेरा आत्म-सम्मान जाता रहेगा। प्रेम और आनन्द से जब मैं भरपूर रहूंगा तो मृत्यु मुझे कितना ही दबावे, मेरी गर्वित आत्मा को कभी दमन करने में समर्थ नहीं होगी।'

मैंने अपने मन को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि डाक्टर कन्हैयालाल बड़े सज्जन और प्रेमी आदमी हैं। यदि वह बदले में मेरी दीदी का प्रेम चाहते हैं तो कोई अन्याय नहीं करते और यदि दीदी उनके गुणों को देखकर उन्हें चाहती है तो उसे इस बात का पूरा अधिकार है। यदि ऐसा है तो मैं क्यों वृथा इस बात से जलता हूँ? स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम स्वाभाविक है और अपनी दीदी की प्रसन्नता देखकर मुझे भी हर्ष होना चाहिए। किसी के दोष और दुर्बलता पर विचार करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति जिस बात पर प्रसन्न रहता है वही उसके लिए अच्छा है। सभी मनुष्यों की वृत्तियां एक-सी होती हैं। डाक्टर कन्हैयालाल में और मुझमें कोई भेद नहीं है।

"इस प्रकार मैंने अपने मन को समझाया। धीरे-धीरे मेरी आत्मा में एक उद्दीप्त गरिमा जाग उठी और मैंने अपने को तुच्छ हिंसा और विद्वेष के भाव से बहुत ऊंचा उठा हुआ पाया। विजय के उल्लास से मेरा हृदय जगमगा उठा और एक अपूर्व आध्यात्मिक स्फूर्ति से मेरे पंख उड़ने के लिये फड़फड़ाने लगे। मैंने सोचा--'रात-दिन की दुश्चिंताओं से मुक्ति पाकर यदि इसी प्रकार आनन्द की उमंग में मैं सदा के लिये अपनी दो आंखों को शीघ्र मूंद सकता तो कैसा अच्छा न होता ! इस समय मेरे मन में किसी के प्रति घृणा नहीं है, किसी के प्रति द्रोह नहीं है। मेरी आत्मा समस्त प्राणियों को, समस्त विश्व को सुमधुर प्रेम से आलिंगन कर रही है। इसी अवस्था में यदि मेरी मृत्यु हो जाती तो मौत भी मुझे सस्नेह गले लगाती !'

* * * *

३६

"बहुत देर तक इस प्रकार की भावनाओं में निमग्न रहने के बाद जब मुझे चैतन्य हुआ तो मुझे अपनी स्थिति पर तरस आया। मैंने सोचा--'इतनी छोटी अवस्था में, जब मैं यौवन के द्वार पर ही अच्छी तरह से नहीं पहुंचने पाया हूं, इस प्रकार जीने-मरने की चिंताओं में मग्न रहने की क्या ऐसी आवश्यकता मुझे पड़ी थी ! संसार में इतने आदमियों को मैं रात-दिन जीवन का आनन्द लूटते और हँसते-खेलते हुए देखता हूँ; साठ-साठ सत्तर-सत्तर वर्ष के बूढ़ों को जीवन की सभी बातों में दिलचस्पी लेते हुए देखता हूं; तब अपनी इतनी अल्पावस्था में मैं क्यों जीवन से उकता गया हूँ ? क्यों मैं अपने को अकेला, स्नेह-वंचित और निरुपाय समझ रहा हूं ?'

"फिर सोचा--'मैं अकेला ही तो हूं, इसमें सन्देह ही क्या है ! श्मशान से लौटकर जब मैं घर जाऊंगा तो कोई वहां मेरी कुशल पूछने वाला नहीं है, कोई दिलासा देने वाला नहीं है। दीदी अपने ही सुख-

दुःख की कल्पना में व्यस्त रहती है, अम्मां घर में नहीं हैं, और यदि घर में होतीं भी तो कभी भूलकर भी मेरी मानसिक वेदनाओं का हाल न पूछतीं। काका को अपने व्यापार-सम्बन्धी तथा दूसरे विषयों में व्यस्त रहने से बिलकुल फुर्सत नहीं रहती, इसलिये उन्होंने कभी मुझसे यह न पूछा कि मेरे भावी जीवन का उद्देश्य क्या है और मैं आजकल किन चिंताओं में लगा हूं। लीला मुझे थोड़ा-बहुत प्यार करती है, इसमें सन्देह नहीं, पर वह अभी बच्ची ही है——उसकी समवेदना का कोई महत्व नहीं है। ऐसी हालत में मेरे लिये जैसा श्मशान है घर भी वैसा ही है।' मेरी आंखों से दो-एक बूंदें आंसू की टपक पड़ीं। मैंने बलपूर्वक अपनी दुर्बलता को दमन किया।

* * * *

"श्मशान से लौटकर कुछ देर के लिये माधवी दीदी के पास बैठा रहा। पर उनके साथ बैठने से मेरा विषाद ही बढ़ा, किसी प्रकार का उत्साह प्राप्त नहीं हुआ।

"जब घर पहुंचा तो अंधेरा होने लगा था। दीदी आज अकेली और उदास बैठी होगी, इस ख़याल से उसी के पास जाकर कुछ देर तक बैठे रहने का विचार किया। उसके प्रति आज मेरे मन में करुणा का भाव जागरित हो गया था। कमरे के पास जाकर मैंने बाहर से पुकारा——'दीदी!' कमरे के भीतर अंधकार छाने लगा था और बत्ती नहीं जलाई गई थी। कुछ आगे बढ़कर उस प्रायांधकार में मैंने जो दृश्य देखा उससे मेरे रोंगटे खड़े हो गए, हाथ-पांव कांपने लगे और दिल बेतहाशा धड़कने लगा। यदि वही दृश्य मैं किसी अन्य समय देखता तो इतना उत्तेजित न होता। पर सायंकाल और रात्रि के बीच का यह समय अत्यन्त विकट था। मैंने देखा कि मेरी दीदी अपनी चारपाई में डाक्टर की गोद में मुंह छिपाए हुए थी और अब मुझे देखकर उसने घबराहट से उठने की चेष्टा की। मैं विभ्रांत होकर लड़खड़ाते हुए पैरों से उसी दम अपने कमरे की तरफ़ चला आया।

मुझे चक्कर आ रहा था और सारा मकान और सारी पृथ्वी मुझे घूमती हुई मालूम होने लगी।

"कमरे में पहुंचकर मैं बिलकुल मृतावस्था में लेट गया। एक तो दिन-भर की थकान और दुश्चिंताएं और तिसपर यह दृश्य ! हिस्टीरिया-ग्रस्त औरत की तरह मैं प्रबल वेग से अपने हाथ-पांव छटपटाने लगा।

"बहुत देर तक मैं बेचैन होकर करवटें बदलता रहा। जब धीरे-धीरे कुछ स्थिर हुआ तो निश्चित संकल्प से मेरा हृदय उल्लसित हो उठा। जिस बात की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी, और, नाना कारणों से, जिसके लिये मैं आज तक हिचकिचा रहा था, उसकी पूर्ति के सम्बन्ध में आज मेरे हृदय से सब दुबिधाएं दूर हो गईं और मैंने उसके लिये दृढ़ संकल्प कर लिया।—मैंने आत्म-हत्या करने की ठान ली।

* * * *

"मैंने उपनिषत् और गीता का यथेष्ट अध्ययन किया है और आज एक बार फिर उन पर विचार किया है। मैं जानता हूं कि आत्महत्या करना महामूर्खता और कायरता है। पर जब मनुष्य विशेष-विशेष स्थितियों के जाल में जकड़ जाता है तो उसका ज्ञान उसे लेशमात्र सहायता नहीं देता। मुझे अब आत्महत्या करने से स्वर्ग का देवता भी नहीं रोक सकता ! कोई ज्ञान, कोई उपदेश मुझे निवारण नहीं कर सकता; अब जीना मेरे लिये बिलकुल असंभव है। आत्महत्या की जो उल्लासमय उमंग, रात-दिन की हाय-हाय और दुर्भावनाओं से मुक्ति पाने की जो उत्कट लालसा मेरे मन में समा गई है उसके सामने गीता का मोक्ष नाचीज़ है। मैं जानता हूं कि लोग कहेंगे—'मर के भी अगर छुटकारा नहीं मिला तो क्या करोगे ? मर जाने से ही क्या तुम मुक्त हो जाओगे ?' हाय, जिसपर नहीं बीती है वह आरामकुर्सी पर बैठकर ज्ञान का ख़ासा उपदेश दे सकता है, अकाट्य तर्क कर सकता है !

"दीदी ! तुम्हें अगर यही मंजूर है तो मैं चला। अब तुम्हारे पथ में कोई कंटक नहीं रहा, अबसे कोई तुम्हारे निर्द्वंद्व सुख में बाधा नहीं पहुंचावेगा। आज तक तुम्हारे हृदय को मैंने जितना दुखाया है, उसके लिये मन-ही-मन क्षमा चाहता हूं। काका के आने की राह देख रहा हूं। कल-परसों जब काका लौट आवेंगे तब सब समाप्त हो जायगा।

* * * *

"बहुत संभव है, आज काका वापस चले आवेंगे। आज सुबह को फिर ईशोपनिषत् पढ़ा। पहले ही श्लोक में लिखा हुआ था—'जिजीविषेत् शतं समाः।'—मनुष्य को चाहिये कि वह सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। पर जिस मनुष्य को २२ ही वर्ष की अवस्था में १०० वर्ष के जीवन का अनुभव प्राप्त हो चुका हो वह क्यों अधिक जीए? इस तर्क से मैंने संकल्प को डिगने न दिया। आत्महत्या करने जा रहा हूं, पर उपनिषत् पढ़ने की लालसा नहीं जाती। कैसी अद्भुत प्रवृत्ति है! मेरा यह विश्वास प्रतिक्षण बढ़ता जा रहा है कि आत्महत्या करने पर मेरी आत्मा को अपने विकास के लिये कोई उन्नत और आनन्दमय पारिपार्श्विक अवस्था प्राप्त होगी। यह विश्वास चाहे कितना ही भ्रान्त हो, पर यह मेरे मन में जम गया है।

* * * *

"बाहर नौकरों ने बड़ा शोर मचाया है। उनकी बातों से मालूम होता है कि काका आ गए हैं। मोटर भी आ पहुंची है। अच्छा ही हुआ। लीला एक बार मेरे कमरे में आई थी, पर मैं उससे बोला नहीं। उपनिषत् की जो पुस्तक मैं पढ़ने लगा था उसे पढ़ता ही चला गया। न मालूम क्यों, आज मैं लीला के प्रति भी यथेष्ट उदासीन हो गया हूं।

"काका और अम्मां से मिलने की इच्छा मैं नहीं रखता। इसलिये पहले ही यहां से निकल जाना चाहता हूं। देखूं, कहीं किसी मित्र के पास 'रिवाल्वर' मिलता है या नहीं।

* * * *

"बड़ी मुश्किल से, बहुत खोज के बाद, एक जगह से रिवाल्वर प्राप्त हुआ है । प्रायः आधी रात बीतने पर घर पहुंचा हूं । इस आशंका से जल्दी नहीं आया कि घर के लोगों को मेरी करतूत कहीं पहले ही मालूम न हो जाय ।

* * * *

"सब ठीक है । मैं तैयार हूं । हे सारे विश्व की एकात्मा ! मुझे क्षमा करना ।"

* * * *

डायरी पढ़ते-पढ़ते आंसुओं की अविरल धाराओं से मेरे गाल न जाने कब से भीगे हुए थे, मुझे मालूम भी नहीं होने पाया—मैं इतनी तन्मय हो गई थी कि यह बात जानने भी न पाई। जब पढ़ चुकी तो मैंने एक लम्बी सांस ली और राजू की आत्मा से क्षमा-भिक्षा और करुणा की प्रार्थना करने लगी ।

३७

एक दिन था जब मैंने माधवी दीदी के यहां फ़र्श पर बैठने में अपना अपमान समझा था । पृथ्वी-माता के संसर्ग से मैं इतना परहेज़ रखती थी ! आज मेरा भाई राख बनकर श्मशान के धूलि-कणों से एक प्राण होकर पड़ा था ! मैंने मन में अपने-आपको संबोधित कर के कहा—"हत-भागिनी, जब तक तू अपने दर्प, अपने मान, अपने बड़प्पन और अपनी आत्मा को मिट्टी में मिलाने में समर्थ न होगी तब तक तेरे पाप का प्रायश्चित्त नहीं होगा । भ्रष्टा अहल्या जिस प्रकार गौतम के शाप से वायुभक्ष्या, निरा-हारा और भस्मशायिनी बनी थी, उसी प्रकार तुझे भी अपने भाई की पवित्रात्मा की तरह शुद्ध होने के लिये कठिन नियमों की आंच में अपनी आत्मा को भस्म करना होगा—संसार के दुःखित और तप्त जनों की सेवा करनी होगी, दरिद्रता को अपनाना होगा, पृथ्वी की धूलि को नित्य अपने

मस्तक पर धारण करना पड़ेगा। दीर्घ-जीवन के अभ्यास से जब शुद्धि हो जायगी तब मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में यदि किसी रूप में राजू को पा सकी, तो उसकी बहन कहलाए जाने के योग्य तू हो सकेगी ।"

उठते, बैठते, सोते, जागते मुझे केवल राजू की ही भावना व्याकुल करने लगी । क्षण-क्षण में मेरे मानस में केवल उसी की मूर्ति जागरित होकर मुझे उन्मना करके एक अत्यन्त तीक्ष्ण वेदना से मेरा कलेजा छेदती जाती थी । पर यह वेदना मुझे बड़ी प्यारी लगती थी । यदि मैं इस वेदना का अनुभव न करती तो बहुत संभव है मेरे प्राण कभी न टिकते । प्रायश्चित्त के लिये मेरे प्राणों का टिकना परमावश्यक था ।

अपने एकसे एक बढ़कर फ़ैशनेबिल कपड़े फेंककर मैंने विशुद्ध खद्दर धारण कर लिया। यही नहीं, नित्य दो घंटे बैठकर चरखा चलाने का नियम भी मैंने रख लिया। इसलिये नहीं कि इससे देश का उपकार होगा या समाज की सेवा होगी। अपनी पतितात्मा की शुद्धि के लिये ही मैंने यह व्रत ग्रहण किया था। कॉलेज जाना छोड़ दिया। दीन, दरिद्र, भूखे और कंगले व्यक्तियों को सप्ताह में एक दिन भरपेट भोजन और कुछ दक्षिणा देने का नियम भी रक्खा।

कुछ दिन तक इस प्रकार से दिन बीते और मेरी आत्मा को शान्ति प्राप्त होने लगी। डाक्टर साहब काका की मृत्यु के बाद केवल शोक-प्रकाश करने के लिये एक दिन अम्मां के पास आए। तबसे उन्होंने बिलकुल ही आना छोड़ दिया। उनके न आने से मुझे और भी अधिक दृढ़ता प्राप्त हुई और व्रत निर्विघ्न चलने लगा। अपने नये जीवन के वैराग्य की सफलता से एक अपूर्व शान्ति का संयत और स्निग्ध आनंद धीरे-धीरे मेरे हृदय में संचारित होने लगा। प्राचीन काल की तापसी महिलाओं के उन्नत चरित्र के महत्ता से मैं धीरे-धीरे परिचित होने लगी।

* * * *

कुछ दिन तक यह स्थिति रही। एक दिन मैं अन्यमनस्क होकर अपने भवन के फाटक के पास खड़ी थी और उदासीनता के साथ सड़क से होकर

आने-जाने वाले आदमियों, मोटरों और गाड़ियों को देख रही थी। अचानक मैंने देखा कि डाक्टर कन्हैयालाल एक मोटर में मेरे कॉलेज की संगिनी कमलिनी को साथ लिये चले जा रहे हैं। मैं पत्थर की मूर्ति की तरह स्तब्ध रहकर दोनों की ओर ताकती रह गई। कमलिनी मुझे देखकर मेरे जले हुए कलेजे में नमक छिड़कने के लिये मंद-मंद मुस्करा रही थी। डाक्टर साहब ने संकोच या अन्य किसी कारण से मुंह फेर लिया था। जब तक मोटर मेरी आंखों से ओझल न हो गई, मैं उसी की ओर आंखें लगाए रही।

जब मोटर अंतर्धान हो गई तो मेरा नियम-संयम सब भंग हो चुका था। प्रतिहिंसा की प्रलयाग्नि फिर एक बार मेरे हृदय में धधकने लगी। सिर में झनझनाहट पैदा हो गई थी और चक्कर आने लगा था। मैंने फाटक के एक किवाड़ का डंडा पकड़ लिया। राजू की मृत्यु की कंटकमयी वेदना और काका की मृत्यु के शोक के अतीत एक अनोखी भावना मेरे मन में उत्पन्न हुई। सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक, सब मेरे लिए एकाकार हो गए और शून्य का भैरव हुंकार मेरे दोनों कानों में गूंजने लगा। कोई उपाय, कोई गति, कोई मार्ग न सूझने पर उत्कट निराशा के वश होकर मैंने सोचा—"यदि मैं भले घर की महिला न होकर ताड़का राक्षसी होती तो उन दोनों की छाती फाड़कर खून पीकर उन्हें मोटर सहित निगल जाती!"

* * * *

मेरा व्रत भ्रष्ट हो गया था। अब मेरा जीना भी व्यर्थ था और मरना भी। मैं केवल आकुल होकर भगवान से प्रश्न करने लगी—"दयामय, मुझे बता दो कि मैंने किसी पूर्व जन्म में स्वाभाविक नियमों का पालन करके नारी का जीवन पूर्ण रूप से बिताया या नहीं? अथवा वर्त्तमान जीवन की तरह मेरे सभी पूर्व जीवन भी अर्थहीन, और लक्ष्यभ्रष्ट होकर व्यर्थता के गहन गह्वर में विलीन हो गए?"

समाप्त।